साहित्य
मुक्ति और संघर्ष

देवेन्द्र इस्सर

कृष्णा ब्रदर्स
अजमेर

प्रथम संस्करण · 1979
मूल्य : पचीस रुपये

प्रकाशक · कृष्णा ब्रदर्स, महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर ।
मुद्रक · केशव आर्ट प्रिन्टर्स, अजमेर ।
बाइण्डर जैन बाइण्डिंग हाउस, ब्रह्मपुरी, अजमेर

साहित्य
मुक्ति और संघर्ष

डा० नरेन्द्र मोहन के नाम

विषय-सूची

साक्षात्कार

"नयी पीढी को एक सकटपूर्ण मन स्थिति से गुजरना पड रहा है। साम्यवाद ने जिस आर्थिक और सामाजिक समता और न्याय का नारा दिया था, वह किसी महत्वाकाक्षी अधिनायक के क्रूर दमन का षड्यन्त्र सिद्ध हुआ। जो युद्ध 'युद्ध' को सदा के लिए खत्म करने के लिए और फासिस्ट रक्तपात से प्रजातन्त्र और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए लडा गया, उसका परिणाम क्या हुआ—अणुबम का विस्फोट, सर्वनाश का आतक, राजनीतिक या सैनिक अधिनायकवाद और मैकार्थीवाद। फ्रायड की 'मृत्युकामना' और 'सभ्यता की असन्तुष्टि' ने कुछ सहारा दिया लेकिन जार्ज आर्वेल के '१९८४' और 'एनिमल फार्म तथा हक्सले के 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' ने रहा सहा भ्रम भी तोड़ दिया।

"आर्थिक एकाधिकार, यान्त्रिक सभ्यता, सार्वजनिक प्रसार-साधन, राजनीतिक सामूहिकवाद, सस्थागत मनुष्य, 'ब्रेन वाशिग', 'हिडन परसुएशन'—इन सबके विरुद्ध लेखक की प्रतिक्रिया अलग-अलग हुई समझौता, पलायन, आत्मसमर्पण, आत्महत्या और विद्रोह। नयी पीढी के लेखकों का विद्रोह, 'तीस' के लेखकों और 'प्रगतिवाद' और 'साम्स्कृतिक स्वतन्त्रता की काग्रेस' से मूलत भिन्न है। नयी पीढी के लेखक हर प्रकार के 'समूह' और 'दल' 'डबल थिक' और 'न्यूस्पीक' के जाल को पूरी तरह समझ चुके है।

"इसम सन्देह नही कि किसी देश या समाज म ऐसी परिस्थिति आ सकती है जब कि लेखक के लिए मार्ग पर जाना अनिवार्य हो जाय या उसे मानवघाती शक्तियो स मोर्चा लना पडे। लकिन मेरा यह विश्वास है कि विकट से विकट परिस्थिति म भी साहित्य-सृजन दूसरे दर्जे का काय नही।

'सर्वसत्तावाद हो या प्रजातन्त्र, लेखक को स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए सजग और सचेत रहना होगा। प्रत्येक राजतन्त्र म लेखक से उसकी अन्तरात्मा और दृष्टि छीन कर उसे आजीविका, पद-प्रतिष्ठा और राज्याश्रय का प्रलोभन देकर राज्य का बन्द बनाने की प्रवृत्ति मौजूद रहती है। वैसे भी देश और समाज की उन्नति और जनता की भलाई के नाम पर साहित्यकार

को साधन के रूप मे प्रयुक्त करने की कमजोरी प्रत्येक तत्व मे होती है। लेखक इस स्थिति को अपने सृजन द्वारा चुनौति देता है। साहित्य का सृजन और अध्ययन हम स्वतन्त्र बनाता है और साहित्य-सृजन को स्वतन्त्र चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता से पृथक नही किया जा सकता।

"साहित्यकार मसूर न सही लेकिन उसकी आत्मा 'ब्रह्मोऽस्मि' कहने की स्वतन्त्रता के लिए सदा तडपती रहेगी और जब उसे सूली पर चढाया जायगा तो उसके अन्तिम शब्द होगे—'ब्रह्मोऽस्मि'—'अनलहक' ।'

देवेन्द्र इस्सर

बी-३/१५३ जनकपुरी
नई दिल्ली—११००५८

'At the other pole of society, in the domain of the arts, the tradition of protest, the negation of that which is 'given', persists in its own universe and in its own right Here, the other language, the other images continue to be communicated, to be heard and seen, and it is this art which, in a subverted form, is now being used as a weapon in the political fight against the established society with an impact far transcending a specific privileged or under-privileged group The subverting use of the artistic tradition/aims from the beginning at a systematic **desublimation** of culture : that *is to say, at undoing the aesthetic form* '

Herbert Marcuse (Counter-Revolution & Revolt)

तुमने देखा

तुमने देखा—
दिशाओं ने डुगडुगी बजायी
आकाश ने पोस्टर चिपकाये,
सड़कों ने जुलूस निकाले
नगरों ने नारे लगाये
और हवाएँ
    संवाददाता की तरह
    उस खबर को ले उड़ीं
आज सारी दुनिया को पता चल रहा है
कि एक मुल्क धू धू कर के जल रहा है।

तुमने देखा—
कोई बात बननी होती है तो कैसे बन जाती है?
जमीन एक कमान सी तन जाती है
और आदमी तीर की तरह छूटता है,
इतिहास जागकर अंगड़ाई लेता है
नसों में सदियों का जमा हुआ रक्त फूटता है,
धीरे-धीरे एक बर्फ-सी पिघलती है
और नीचे से एक सड़क निकलती है।
वो सड़क
जो पांवों को मंजिल तक ले जाती है
राजनीति की भाषा में
'नीति' कहलाती है

तुमने देखा—
लोग अब आहिस्ता-आहिस्ता इस सड़क पर इकट्ठा होने लगे हैं
देखो, उनके खाली हाथों की मुट्ठियां
किस तरह कसी हुई है ?
उनके लहू-लुहान पांवों को मत देखो,
उनकी चाल को देखो।
जिसमे आक्रामक व्याघ्र की चुस्ती बसी हुई है,

उनके शरीर पर मत जाओ
कि ये अस्थिपंजर कागज़ के पुतलों की तरह
खड़क रहे है,
उनके सीनों को देखो
जिनमे लहू के फव्वारे
जवान चिनगारियों की तरह फड़क रहे है।

तुमने देखा—
ये उत्साह
रावण जलाने के शिशुवत् उत्साह से कितना अलग है ?
ये इरादा !
तमाशबीनों की उचटती निगाह से कितना अलग है ?

तुमने देखा—
ये लोग
इस टूटी हुई नाव मे बैठ कर
इसे किनारे तक खेने आये है।
और उधर कतारों मे खड़े हुए लोग
राशन नहीं, रोशनी लेने आये है।

तुमने देखा—
झुग्गियों और मकानों में
चीखें और कराहें बढ रही हैं,
औरतें घरों में,
जरूरतों के साथ झगड़ रही हैं,
बदबूदार साँस, धुए-सा,
थम-थम कर निकल रहा है,
ऐसा लगता है
जैसे शरीर के भीतर
कोई मुरदा जल रहा है

तुमने देखा
कितना नाजुक क्षण है ?
अभी ये चीखें और कराहें
और तेज होंगी,
ये खबरें-जिनको सुन-सुन कर लोग आये हैं
और सनसनीखेज होंगी,
शायद ये अंधेरा दूर होगा,
कुछ-न-कुछ जरूर होगा,
यह एक शुभ लक्षण है
कि आदमी ने
काल की परछाई को कितने करीब से छुआ है,
इतिहास साक्षी है—
कि इतिहास बदलने से पहले
हमेशा ऐसा ही हुआ है

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाम)

- दुष्यन्त कुमार

आमने-सामने

जब रचना के भीतरी संसार और रचना के बाहर के संसार में तनाव की स्थिति पैदा होती है तो कला-कृति का जन्म होता है। इस तनाव के कारण रचनाकार दो विरोधी स्थितियों में से एक के वरण में अपने को विवश पाता है। वह इन स्थितियों में से एक के वरण में स्वतन्त्र है लेकिन वरण की उपेक्षा में स्वतन्त्र नहीं। यह उसकी अस्तित्ववादी नियति है। ये दो विरोधी स्थितियाँ हैं—रचना के बाहर के संसार के सम्मुख समर्पण या उससे विद्रोह। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस तनाव की भीषण मानसिक पीड़ा को सहन न कर पाने के कारण वह *आत्महनन* की शरण लेता है—शारीरिक स्तर पर अथवा मानसिक स्तर पर। वास्तव में वह अपने विरोध का मुख अपने स्वत्व की ओर मोड़ देता है और स्वत्व स्तर पर ही नहीं, कल्पना स्तर पर भी अपना हनन कर लेता है।

इस आत्महनन, समर्पण और पलायन से बचने के लिए और रचना से बाहर के संसार पर रचना-संसार का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए रचनाकार के लिए विद्रोह के वरण के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं रह जाता क्योंकि अन्ततः कृति यथार्थ पर कल्पना की विजय प्राप्त करने की कशमकश का नाम है। 1968 में फ्रांस की युवा पीढ़ी के आन्दोलन के बहुत से नारों में एक नारा जो पेरिस की दीवारों पर जगह-जगह दिखाई देता था, यह था

कल्पना को शक्ति प्राप्त हो।

कल्पना शक्ति है।

और जब किसी कलाकार को कल्पना की शक्ति शिथिल पड़ती महसूस होने लगती है तो वह एक जर्मन लेखक की भाँति पुकार उठता है मेरी यह कामना रही है कि मैं जेब में पिस्तौल रखकर अपने साहित्य की रचना करूँ—

स्थिति कोई भी हो। प्रत्येक देश में, प्रत्येक समय, प्रत्येक समाज में विद्रोह रचना का मूल स्वर रहा है। कृति अपनी रचना-प्रक्रिया में एक "सब्वर्सिव" क्रिया है। लेकिन रचनाकार राजनैतिक "एक्टिविस्ट" नहीं। उसका विद्रोह किसी एक सत्ता को बदलने के लिए नहीं, बल्कि प्रत्येक सत्ता

तुमने देखा—
झुग्गियों और मकानों में
चीखें और कराहें बढ़ रही हैं,
औरतें घरों में,
जरूरतों के साथ झगड़ रही हैं,
बदबूदार साँस, धुएँ-सा,
थम-थम कर निकल रहा है,
ऐसा लगता है
जैसे शरीर के भीतर
कोई मुरदा जल रहा है

तुमने देखा
कितना नाजुक क्षण है?
अभी ये चीखें और कराहें
और तेज होंगी,
ये खबरें-जिनको सुन सुन कर लोग थाय हैं
और सनसनीखेज होंगी,
शायद ये अँधेरा दूर होगा
कुछ-न-कुछ जरूर होगा,
यह एक शुभ लक्षण है
कि आदमी ने
काल की परछाईं को कितने करीब से छुआ है,
इतिहास साक्षी है—
कि इतिहास बदलने से पहले
हमेशा ऐसा ही हुआ है

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के नाम)

दुष्यन्त कुमार

आमने-सामने

जब रचना के भीतरी संसार और रचना के बाहर के संसार में तनाव की स्थिति पैदा होती है तो कला-कृति का जन्म होता है। इस तनाव के कारण रचनाकार दो विरोधी स्थितियों में से एक के वरण में अपने को विवश पाता है। वह इन स्थितियों में से एक के वरण में स्वतन्त्र है लेकिन वरण की उपेक्षा में स्वतन्त्र नहीं। यह उसकी अस्तित्ववादी नियति है। ये दो विरोधी स्थितियाँ हैं—रचना के बाहर के संसार के सम्मुख समर्पण या उससे विद्रोह। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इस तनाव की भीषण मानसिक पीडा को सहन न कर पाने के कारण वह आत्महनन की शरण लेता है—शारीरिक स्तर पर अथवा मानसिक स्तर पर। वास्तव में वह अपने विरोध का मुख अपने स्वत्व की ओर मोड देता है और स्वत्व स्तर पर ही नहीं, कल्पना स्तर पर भी अपना हनन कर लेता है।

इस आत्महनन, समर्पण और पलायन से बचने के लिए और रचना से बाहर के संसार पर रचना-संसार का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए रचनाकार के लिए विद्रोह के वरण के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं रह जाता क्योंकि अन्तत कृति यथार्थ पर कल्पना की विजय प्राप्त करने की कशमकश का नाम है। 1968 में फ्रास की युवा पीढी के आन्दोलन के बहुत से नारों में एक नारा जो पेरिस की दीवारों पर जगह-जगह दिखाई देता था, यह था

कल्पना को शक्ति प्राप्त हो।

कल्पना शक्ति है।

और जब किसी कलाकार को कल्पना की शक्ति शिथिल पडती महसूस होने लगती है तो वह एक जर्मन लेखक की भाँति पुकार उठता है मेरी यह कामना रही है कि मैं जेब में पिस्तौल रखकर अपने साहित्य की रचना करूँ—

स्थिति कोई भी हो। प्रत्येक देश में, प्रत्येक समय, प्रत्येक समाज में विद्रोह रचना का मूल स्वर रहा है। कृति अपनी रचना-प्रक्रिया में एक "सब्वर्सिव" क्रिया है। लेकिन रचनाकार राजनैतिक "एक्टिविस्ट" नहीं। उसका विद्रोह किसी एक सत्ता को बदलने के लिए नहीं, बल्कि प्रत्येक सत्ता

को चुनौती देने से है। इस अर्थ मे रचनाकार निरन्तर विद्रोही ही नहीं, अराजकताप्रिय भी है।

प्रश्न यह नही है कि हमे सर्वाधिकार सम्पन्न सरकार के किस हिस्से को बदलना है या उसमे कोई तकनीकी या व्यावहारिक सुधार लाना है, मानव-आत्मा जिसको बदलना चाहती है, वह तो समूची सर्वाधिकार सम्पन्न सरकार ही है और मानवता जितनी प्रखरता से अपने आपको उससे अलग करेगी, उतनी ही तेजी से वह उस व्यवस्था के विरुद्ध कोई निर्णय ले सकेगी वह निर्णय भी सम्पूर्ण और स्वच्छन्द होगा। यह उस व्यवस्था से सीधा मुकाबला होगा तथा उस व्यवस्था को निष्प्रभ करना होगा।

कला का सही मिशन ही विद्रोह है। इसकी सच्ची प्रकृति ही ऐसी है कि कोई भी सत्ता इसे सहन नही कर सकती। वह कलाकार को परेशान करेगी और कला का दमन करेगी। आन्द्रे ब्रितेन ने अतियथार्थवाद के दूसरे घोषणा पत्र मे लिखा है कि अतियथार्थवाद का सबसे सीधा सादा कार्य है—हाथो मे रिवाल्वर लेकर सडको पर निकल पडना और भीड मे इधर-उधर गोलिया चलाना। जिस किसी व्यक्ति ने एक बार भी सामाजिक अपमानजनक पतन और जडता की वर्तमान तुच्छ व्यवस्था को खत्म करने के बारे मे नही सोचा तो उसका स्थान भीड मे निश्चित है जब तोप का मुह उसके पेट के सामने होगा।

जीर्ण रीति-रिवाज और रूढ़िग्रस्त विचारो से विद्रोह रचनाकारो के स्वभाव मे शामिल रहा है। प्रत्येक युग मे कवि और कलाकार प्रचलित विषमताओ से क्षुब्ध हुए हैं और उन्होंने आक्रोश प्रकट किया है। अपने विचारों और अनुभूतियो तथा अनुभवो की प्रामाणिक अभिव्यक्ति के लिए उन्होने कई बार सनसनीपूर्ण साधनो का प्रयोग भी किया है या कभी-कभी चौंका देने वाली हरकतें भी की हैं। लेकिन ह्रासो-मुख मूल्यो के विरुद्ध उनका विद्रोह किसी नये मूल्य के अन्वेषण के लिए होता रहा है। नये मूल्यो की खोज उनकी सृजनात्मक शक्ति को क्रियाशील बनाने मे सहायक सिद्ध होती रही है।

मैं किसी ऐसे व्यक्ति या अव्यक्ति को नही जानता जिसकी कोई "जीवन दृष्टि" नही। वह कतिपय आधुनिक सस्मरण का "नान पर्सन" हो या "एण्टी हीरो" अपने व्यवहार और रवैये मे किसी न किसी प्रकार की जीवन-दृष्टि को ही प्रकट कर रहा होता है। जब दादावादी कलाकार पूर्ण "...गेशन" के उस बिन्दु तक पहुँच जाता है जहाँ वह स्वय को भी "एण्टी

दादा" घोषित करने पर विवश पाता है तो भी वह अपनी विशिष्ट जीवन दृष्टि का ही परिचय दे रहा होता है। जीवन दृष्टि अनिवार्य है। अब यह अलग बात है कि कोई लेखक अपनी जीवन दृष्टि की व्यापकता का कितना और कैसा प्रमाण देता है।

आज के सदर्भ मे ही नही, जीवन-दृष्टि हर युग मे अनिवार्य रही है। वह युग बुद्ध का हो या सुकरात या बर्ट्रेण्ड रसेल का। हा शायद इससे पूर्व यह एहसास इतना तीव्र नही था कि लेखक अपने साहित्य को अपने युग की परिस्थितियो से जोड दे। प्रश्न सामाजिक या वस्तुगत विषयो पर कहानी या कविता लिखने का नही बल्कि उस परिस्थिति, सत्ता और जडता के विरुद्ध प्रोटेस्ट का है जो मनुष्य को 'डीह्यूमेनाइज' करने पर कटिबद्ध है। मैं मनुष्य और जीवन के प्रति आस्था को दकियानूसी मूल्य नही समझता। अनास्था का नारा लगाने वाले भी जीवन-दृष्टि का ही प्रमाण दे रहे हैं। वे मूल्यहीनता या मूल्य-शून्य और एलियेनेशन की आड म आत्मरति और आत्मसमर्पण का सबूत दे रहे हैं।

क्या प्रतिरोध का युग खत्म हो गया है? क्या समस्त मूल्य निरर्थक हो चुके हैं? क्या सास्कृतिक पतन अतिम बिन्दु तक पहुँच चुका है? क्या कला और सगीत की हमारे जीवन मे कोई जरूरत नही? क्या हमारे साहित्य का कोई प्रयोजन या अर्थ नही रह गया? भ्रष्टाचार, अयोग्य नौकरशाही, शक्तिलोलुपता, सेनानायक की सत्तारूढता, राजनीति के छल-कपट, मासमीडिया का प्रचार और अस्तित्व का सकट, कालाबाजार, युद्ध और अणुबम का पागलपन और कथनी व करनी का अन्तर, बडे-बडे शहरो मे सस्कृति-विरोधी लोगो के भोग विलास के साधन, विषाक्त खुराक, अत्याचार, हिंसा, झूठ और अन्याय-क्या ये सब कुछ इसलिए सहन किया जाता है कि यह सब बेकार और निरर्थक है और हम सत्य की तलाश कर रहे है? और जब यह सत्य तलाश कर लिया जाता है तो मालूम होता है कि हत्या, कामुकता, परोत्पीडन और मनुष्य के विकृत रूप ही आन्तरिक वास्तविक सत्य हैं। ऐसे रचनाकार इस ससार से बाहर हो जाते हैं जिससे उनका सृजनात्मक तनाव है तो वे इस ससार से एक नया सम्पर्क-सूत्र स्थापित कर लेते हैं—यौन-सम्बन्धात्मक सूत्र। यही कारण है कि बहुत से लेखक जो वास्तव मे 'ड्राप-आउट' हैं, विद्रोह का केवल नाटक करते है, समाज से बलात्कार का रवैया प्रदर्शित करते हैं। वे यौन-सम्बन्धी शब्दावली का प्रयोग करते हैं। वे न आत्मघृणा से मुक्त हैं, न पापानुभूति से। वे लिंग, यौन, रक्त, सम्भोग, बलात्कार, हस्तमैथुन, आदि शब्दो का प्रयोग करके केवल अपनी

नपुंसक आक्रमणकारिता का विरेचन करते हैं। उनके लिए रचना-प्रक्रिया विद्रोह नहीं, विरेचन है। कई कारणों से यह रवैया विद्रोह का नहीं, आत्म-समर्पण का है। सत्ता में अश्लील भाषा को सहन और आत्मसात् करने की असीम शक्ति है, क्योंकि सत्ता का समस्त अस्तित्व ही अश्लील है। उसकी समस्त क्रिया ही बलात्कार की प्रक्रिया है। यह रवैया अपने अन्तिम रूप में मानवीय यौन सम्बन्धों को ही निकृष्टता के निम्नतम स्तर पर ले आता है। वास्तव में यह रवैया उस समय जन्म लेता है जब कलाकार को यह एहसास हो जाता है कि समाज में उसकी रचना का कोई महत्व नहीं। समाज में जो भी निर्णय होते हैं, उसमें उनका कोई स्थान नहीं। ये निर्णय उन लोगों द्वारा लिये जाते हैं जो कल्पना की शक्ति पर सत्ता की शक्ति का प्रभुत्व स्थापित करने के लिए किसी भी दमन अस्त्र और नीति का प्रयोग करने में सकोच नहीं करते।

भाषा और बिंब रचनात्मक विद्रोह में बड़े ही महत्वपूर्ण रहे हैं। सत्ता भाषा और बिंबों का प्रयोग मनुष्य की दासता के लिए करती है। इस स्थिति का सामना करने के लिए रचनाकार को यौन-सम्बन्धी या राज-नैतिक भाषा का प्रयोग नहीं बल्कि नयी भाषा का अन्वेषण करना होगा। इस भाषा का गहरा सम्बन्ध लोक-भाषाओं से अनिवार्य रूप से होगा। विद्रोह और अस्वीकार की भाषा यौन बिंबों और राजनीति की 'विद्रोही'' भाषा के विरोध में जन्म लेगी।

सत्ता रचना के भीतरी ससार के विद्रोह को नष्ट करने के लिए उसकी भाषा और शैली को आत्मसात् करने का प्रयत्न करती है। इसलिए रचना-त्मक भाषा को निरन्तर बदलते रहना होगा। वह एक अर्थ में गेरीला प्रणाली का प्रयोग करेगी। जब सत्ता इस प्रणाली को नष्ट करने में सफल नहीं हो पाती तो वह रचना-ससार को तोड़ने का प्रयत्न करती है। विशेषकर उन रचनाओं के सम्बन्ध में जहाँ भाषा, शैली और कल्पना को सपूर्ण कृति से अलग नहीं किया जा सकता तो वह रचना और रचनाकार को ही दमन का निशाना बना देती है। ऐसी स्थिति में एक विशेष कृति का विद्रोह सपूर्ण रचना-ससार का विद्रोह बन जाता है।

जब किसी समाज में यह स्थिति उत्पन्न होती है तो सृजनात्मक विद्रोह राजनैतिक क्रांति से बहुत आगे निकलकर मनुष्य की स्वतन्त्रता और सांस्कृ-तिक मुक्ति का हरावल दस्ता बन जाता है। आज के युग में किसी रचना के मूल्यांकन की कसौटी यही हो सकती है कि इस हरावल दस्ते में वह रचना अपनी भूमिका किस प्रकार निभा रही है। •

व्यवस्था : साहित्यकार की भूमिका

"और तब मुझे प्रतीत हुआ भयानक
गहन प्रेतात्माएँ इसी नगर की
हर रात जुलूस मे चलतीं
परन्तु दिन मे
बैठती हैं मिलकर करती हुई षड्यन्त्र
विभिन्न दफ्तरों मे, कार्यालयों, केन्द्रों मे, घरों मे
हाय ! हाय ! मैंने उन्हें देख लिया नगा
इसकी मुझे और सजा मिलेगी"
"सब चुप, साहित्यिक चुप और कविजन निर्वाक
चिन्तक, शिल्पकार, नर्तक चुप हैं
उनके खयाल से यह सब गप है,
मात्र किंवदन्ती
भव्याकार भवनों मे शिविरों मे छिप गये
समाचार पत्रों के पतियों के मुख स्थूल।
गढे जाते सवाद, गढी जाती समीक्षा
गढी जाती टिप्पणी जन-मन-उर-शूल।
बौद्धिक वर्ग है क्रीतदास
किराये के विचारों का उद्भास
बडे-बडे चेहरों पर स्याहियाँ पुत गई
नपुसक श्रद्धा
सडक के नीचे गटर मे छिप गई।"

—मुक्तिबोध

स्वतन्त्रता : सृजन का स्वायत्त संसार

'मुझे स्वतन्त्रता दो या मृत्यु दो'
—पेट्रिक हेनरी

स्वतन्त्रता अथवा मृत्यु ! कभी-कभी साहित्यकार के जीवन मे ऐसा क्षण भी आता है जब अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदार रहने के लिए उसे स्वतन्त्रता या मृत्यु मे से किसी एक का चयन करना पडता है क्योंकि एक ईमानदार साहित्यकार और सृजनात्मक प्रतिभा होने के नाते उसे स्वतन्त्रता के बिना मृत जीवन की-सी यातना सहन करनी पडती है। स्वतन्त्रता के बिना उसकी सृजनात्मक शक्ति कभी भी क्रियाशील नही हो सकती। इसी कारण स्वतन्त्रता या मृत्यु के अतिरिक्त उसके लिए तीसरी कोई राह नही। स्वतन्त्रता-हीन जीवन मृत्यु के समान है। इसके बावजूद बौद्धिक स्वतन्त्रता पर हर प्रकार के प्रतिबन्ध लगाये जाते है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ये प्रतिबन्ध भी स्वतन्त्रता की सुरक्षा के नाम पर लगाये जाते हैं। स्वतन्त्रता के नाम पर स्वतन्त्रता को नष्ट करने के लिए इतने कठोर अपराध किये गये हैं कि उनकी सूची तैयार करना सम्भव नही और उनका वर्णन मात्र ही मनुष्य को 'सिनिक' बना देने के लिए काफी है। लेकिन इसका आशाजनक पहलू यह है कि स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए मनुष्य ने हर प्रकार की यातना सही और सघर्ष जारी रखा।

कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि स्वतन्त्रता की व्याख्या ईमानदारी से या अवचेतन रूप मे ऐसी की गयी है कि जिसका परिणाम दासता की स्थापना

मे हुआ। शायद ही कोई ऐसी विचारधारा हो जिसे साहित्यकार की स्वतन्त्रता पर आपत्ति होगी। लेकिन कोई भी दो विचारधाराएं स्वतन्त्रता की परिभाषा पर एकमत नहीं। इस उलझन को दूर करने के लिए 'सही स्वतन्त्रता' या 'सच्ची स्वतन्त्रता' जैसे शब्दो का प्रयोग किया जाता है। स्वतन्त्रता सदा सही और सच्ची होती है। सत्यता स्वतन्त्रता मे निहित है। जब हम स्वतन्त्रता की कोई सन्तोषजनक परिभाषा करने मे असमर्थ रहते हैं तो फिर इस प्रकार के शब्दों की शरण ली जाती है। कानून, नीति और दर्शन एक दूसरे मे इस प्रकार गडमड हो जाते है कि स्वतन्त्रता का अस्तित्व ही खतरे म पड जाता है।

वास्तव म स्वतन्त्रता एक कैथॉलिक धारणा है। स्वतन्त्रता को राजनैतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत करना पर्याप्त नही। स्वतन्त्रता का क्षेत्र जीवन के क्षेत्र की तरह विस्तृत एवम् विशाल है। स्वतन्त्रता मानव जीवन का तत्व है। हरबर्ट रीड ने स्वातन्त्र्य की व्याख्या इस रूप म की है

> **प्रेस की स्वतन्त्रता, सघ की स्वतन्त्रता और व्यापार की स्वतन्त्रता-स्वातन्त्र्य के ये सब प्रयोग मुझे गलत नजर आते हैं क्योंकि स्वातन्त्र्य एक 'एब्स्ट्रैक्ट' धारणा है, एक दार्शनिक शब्द है।**

स्वतन्त्रता किससे और किसलिए—ये दो प्रश्न बडे महत्वपूर्ण हैं। इनका सन्तोषजनक उत्तर दिए बिना स्वातन्त्र्य की प्रकृति पर विचार करना कठिन है। जब हम स्वतन्त्रता की माग करते है तो हमारे मस्तिष्क मे किसी प्रतिबन्ध का भय होता है जिससे हम स्वतन्त्र होना चाहते हैं। प्रतिबन्ध कई प्रकार के हो सकते है—राजनैतिक नैतिक, सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक। इसलिए कहा जाता है कि स्वतन्त्रता की प्रकृति निश्चित नही की जा सकती। समय और स्थान के अनुकूल प्रत्येक व्यक्ति के लिए स्वतन्त्रता का अर्थ बदलता रहता है। यही कारण है कि बिल्कुल उस समय जब हम समझते हैं कि स्वतन्त्रता हमारी पकड मे आ गयी है, हम स्वतन्त्रता से दूर जा चुके होते हैं। इसका कारण है कि हम स्वातन्त्र्य की दार्शनिक प्रकृति से परिचित नहीं। वास्तव मे स्वतन्त्रता का प्रश्न मौलिक रूप मे व्यक्तिगत और दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रश्न है। यदि हम इसे राजनैतिक और सामाजिक प्रश्न समझकर ही इसका साधारणीकरण कर देते है तो हम किसी एक प्रतिबन्ध या दूसरे नियन्त्रण से स्वतन्त्र होने की आशा मे नये प्रति-

बन्ध लेते हैं। यह ठीक है कि बाह्य रूप में सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य का कोई अस्तित्व नहीं लेकिन फिर भी साहित्यकार लार्ड एक्टन का समर्थन करते हुए यह कह सकता है

> स्वातन्त्र्य से मेरा अभिप्राय वह सुरक्षा है जिससे प्रत्येक मनुष्य सत्ता, बहुसख्य रीति और मत के प्रभाव के विरुद्ध अपने विश्वासानुसार अपने कर्तव्य का पालन कर सकता है।

स्वतन्त्रता का अर्थ प्रत्येक युग मे एक समान नही रहा। उदाहरणतया रूसो उक्त राजनीतिक समुदायो, राज्यो, साम्राज्यो और गिरजाघरो से स्वतन्त्रता का इच्छुक था। उसके विचार मे यह स्वतन्त्रता तब ही प्राप्त हो सकती है जब हम अधिक प्रारम्भिक और प्राकृतिक जीवन की ओर लौट चलें। रूसो के इस 'रोमाण्टिक' दृष्टिकोण के विपरीत प्रगतिशील विचारकों के मतानुसार स्वतन्त्रता का अर्थ भूख, बीमारी, अज्ञान, अन्ध-विश्वास, अरक्षा और प्रारम्भिक एव प्राकृतिक जीवन से मुक्त होना है।

स्वतन्त्रता के ये दोनो सिद्धान्त स्वतन्त्रता के दो विरोधी पक्षो को प्रस्तुत करते हैं। 'रोमाण्टिक' साहित्यकार प्रकृति की गोद मे वापस लौट जाना चाहते हैं—एक ऐसी प्राकृतिक अवस्था म, जहाँ सभ्य ससार के राजनीतिक और आर्थिक सगठन नही होंगे। रूसो के कथनानुसार मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है परन्तु हर जगह दास नजर आता है। प्राकृतिक अवस्था भू-स्वर्ग है। लोक के विचार मे भी प्राकृतिक अवस्था मे जीवन तर्क के अनुकूल था। लोगो को जीवन, सम्पत्ति और स्वतन्त्रता के अधिकार प्राप्त थे। आजकल बहुत से ऐसे उपन्यास लिखे जा रहे हैं जो आधुनिक सभ्यता की कृत्रिमता और बनावट के विरुद्ध दुख की भावना व्यक्त करते हैं और जिनमे यह आकाक्षा की जाती है कि वह नग्न होकर हरी-हरी घास पर लेट जाए, नगे पाँव भूमि पर चलें और अपनी प्रवृत्तियो को स्वाभाविक स्वच्छन्द रूप मे बिना किसी सामाजिक और नैतिक अकुश के सन्तुष्ट होने दें। उनके विचार मे आधुनिक सभ्यता उन्हे यन्त्रो और रूढिग्रस्त रीति-रिवाजो म जकडकर कृत्रिम, खोखले और सतही जीवन की ओर ले जा रही है। स्वतन्त्रता का यह रोमाण्टिक विचार अमरीकी उपन्यासो मे अधिक स्पष्ट है जहाँ सभ्यता यान्त्रिक युग की दासी बनकर मानव-भावनाओ को धीरे-धीरे कुण्ठित करके नष्ट कर रही है।

प्रगतिशील विचारधारा प्राकृतिक स्वतन्त्रता को प्रकृति की दासता

समझती है। उसके अनुसार विज्ञान की प्रगति से मनुष्य प्रकृति को अपने कल्याण के लिए प्रयोग मे लाकर जीवन को समृद्ध एवम् सम्पूर्ण बना सकता है। औद्योगिक क्रान्ति, शिक्षा का प्रसार और विज्ञान की प्रगति मनुष्य को स्वतन्त्र बनाती हैं। वह भविष्य की रचना के योग्य बनता है। जबकि रोमाण्टिक लेखक अतीत के अन्धकार मे विलीन हो जाना चाहता है। प्रगतिशील प्रकृति म शरण लेने के बजाय उस पर प्रभुता कायम करके स्वतन्त्र होने की आकाक्षा करते हैं। इससे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता की कल्पना प्रतिबन्ध के विचार से सम्बद्ध है। क्योकि प्रतिबन्ध की कल्पना म मतभेद है इसलिए स्वतन्त्रता का कोई निश्चित सिद्धान्त स्वीकार करना सम्भव नही। इस समस्या का समाधान करने के लिए साधारण तौर पर स्वतन्त्रता के साथ आर्थिक या राजनैतिक शब्द जोड दिये जाते हैं जिसस समस्या सुलझने के बजाय और उलझ जाती है क्योकि इन शब्दो के जोडने के बाद भी इसी तरह का मतभेद कायम रहता है।

पूजीवाद म आर्थिक स्वतन्त्रता से अभिप्राय 'खुले छोड दो' है। व्यक्तिवादियो के विचार में लोगो के जीवन मे राज्य को कम-से-कम दखल देना चाहिए तभी अधिक-से-अधिक प्रसन्नता प्राप्त कर सकते है। इसलिए राजनीतिक स्वतन्त्रता अनिवार्य है। इसके विपरीत समाजवादी लेखको का विचार यह है कि जब तक मनुष्य की मूल आवश्यकताए पूर्ण नहीं होतीं और आर्थिक समता कायम नही की जाती, राजनीतिक स्वतन्त्रता मिथ्या है। ट्रेजेडी यह हुई कि दोनो प्रकार की प्रथाओ मे न आर्थिक समता मिली और न राजनीतिक स्वतन्त्रता ही प्राप्त हुई। लोग एक दासता से 'स्वतन्त्र' होकर दूसरी दासता का शिकार हो गये।

यूँ तो कोई भी व्यक्ति बाह्य या आन्तरिक तौर पर सम्पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नही हो सकता। वह वश परिवार, पालन-पोषण, वातावरण और मनस्थिति से विवश होता है और इनमे परिवर्तन लाने की शक्ति और विकल्प पर उसका बहुत कम अधिकार होता है। मनुष्य कुछ मानसिक विवशताओ और अवचेतन की कुण्ठाओ के अन्तर्गत जीवन व्यतीत करता है। लेकिन फिर भी स्वतन्त्रता की अनुभूति पैदा हो सकती है। सर्वसत्तावाद मे स्वातन्त्र्य का आन्तरिक अनुभव भी नष्ट कर दिया जाता है। साहित्यकार के लिए इस अनुभूति को व्यक्त करना अनिवार्य है। स्वतन्त्रता के दो पक्ष है—आन्तरिक और बाह्य और इसी कारण स्वतन्त्रता की व्याख्या आन्तरिक और बाह्य पक्ष से ही सही हो सकती है। आन्तरिक तौर पर स्वतन्त्रता की अनुभूति तब

पैदा होती है जब हमे अपनी वृत्तियो, आकाक्षाओ और 'मन की मौज' मे बिना किसी बाधा और विवशता के बह जाने का अवसर प्राप्त होता है, जब हम अपनी त्रुटियो म से किसी एक को दूर करने की क्षमता रखते हैं और प्रतिबन्ध मे परिवर्तन महसूस करते हैं। बाह्य स्वतन्त्रता का उल्लेख पहले हो चुका है। अर्थात् बिना किसी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रतिबन्ध के अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता साहित्यकार के लिए अनिवार्य है।

> **"मुझे समस्त स्वतन्त्रताओ से अधिक विवेक के अनुकूल ज्ञान, वाणी और विवाद की स्वतन्त्रता दो।"**
>
> **—मिल्टन**

चिन्तन स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य सम्बद्ध हैं। शताब्दियो के सघर्ष के बाद यह स्वीकार किया गया है कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अविच्छिन्न अग है। इसका एक तार्किक, नैतिक या सामाजिक पक्ष यह भी है कि जो लोग राजनीतिक अथवा धार्मिक सुरक्षा के लिए इस स्वतन्त्रता को नष्ट करना चाहते हैं, वे अपने मस्तिष्क म पूर्ण रूप से विश्वास कर लेते हैं कि साहित्यकार का विचार गलत है। पूर्ण रूप मे अपने मत को सही स्वीकार करना मानसिक दासता है। ऐसे लोग यह बात समझने के अयोग्य हैं कि वे गलती करने से मुक्त नही। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आमतौर पर ऐसे लोग गलत सिद्ध हुए है और जिन लोगो की हत्या की गयी या जिनका दमन किया गया, वे सही थे।

स्वतन्त्रता का नाश करने वाले लोग सही भी हो सकते हैं या किसी हद तक सही और किसी हद तक गलत। लेकिन इसका निर्णय वे स्वय नही कर सकते बल्कि इतिहास इनका निर्णय करता है। यदि वे सही भी है तो भी उन्हें यह अधिकार नही दिया जा सकता कि वे दूसरे की स्वतन्त्रता छीन लें। क्योकि अभी यह निर्णय ही नही हुआ कि वे सही हैं और यदि वे गलत है तो उन्होने एक सत्य को दबाने का प्रयत्न किया है। ऐसे लोग अपनी सद्भावना और ईमानदारी की दुहाई दे सकते है और कह सकते हैं कि यह कार्य उन्होने अपने विवेकानुसार किया है। लेकिन वे यह क्या भूल जाते हैं कि दूसरे ने जब स्वतन्त्रता का उपयोग किया है तो उसने भी अपने विवेकानुकूल अपना मन प्रकट किया है? वे यह भी कह सकते हैं कि क्या गलती के डर मे हम अपनी बुद्धि का प्रयोग बन्द कर दें जबकि वे किसी विचार को अपनी बुद्धि के अनुसार समाज और कानून के लिए विनाशकारी समझते है।

और बाद मे वह विचार वाकई हानिकर सिद्ध होते हैं। जे. एस. मिल ने इस प्रश्न पर अपना मत प्रकट करते हुए लिखा है

> "एक मत को सत्य स्वीकार करने-क्योंकि उसको असत्य सिद्ध करने के प्रत्येक अवसर के बावजूद रद्द नहीं किया जा सका, और इसे रद्द करने की आज्ञा न देने के उद्देश्य से इसे सत्य स्वीकार करने मे बहुत बडा अन्तर है। किसी विचार को रद्द करने और असत्य सिद्ध करने की पहली शर्त ही सम्पूर्ण स्वतन्त्रता है जिससे हम क्रिया के उद्देश्य के लिए उसको सत्य समझने मे न्याय सगत हैं। और दूसरी किसी शर्त पर मानव प्रवृत्ति के साथ कोई व्यक्ति बौद्धिक तौर पर अपने आपको सत्य समझने का विश्वास नहीं कर सकता।"

यदि ऐसे लोग सही भी है तो भी किसी विचार को खत्म करना मूर्खता है क्योकि बौद्धिक स्तर पर यह सम्पूर्ण विश्वास तभी प्राप्त किया जा सकता है जबकि हम उस विचार पर स्वतन्त्रतापूर्वक वाद-विवाद के निरकुश अवसर देते है और यह सिद्ध करते हैं कि उससे इन्कार सम्भव नही। यदि किसी विचार से काल्पनिक तौर पर विरोध की गुजाइश है तो स्वतन्त्रता को बल-पूर्वक नही छीना जा सकता। और अगर परस्पर-विरोधी विचारो म कुछ आशिक सत्य है तो दोनो को न केवल सहन करना आवश्यक है बल्कि उनके प्रचार को भी प्रोत्साहन देना जरूरी है। जे बी बरी के कथनानुसार .

> "भौतिक और नैतिक उन्नति की एक श्रेष्ठ अवस्था वह है जिसकी प्राप्ति सम्पूर्ण तौर पर मनुष्य की शक्ति मे है, और वह है—चिन्तन और विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता। ज्ञान की उन्नति और त्रुटियो के सुधार के लिए निरकुश स्वतन्त्रता अनिवार्य है। जब चिन्तन-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को सामाजिक उन्नति के लिए श्रेष्ठ अवस्था स्वीकार कर लिया जाता है तो यह साधारण उपयोगिता की परिधि से निकाल कर श्रेष्ठ उपयोगिता की परिधि मे प्रवेश कर लेता है जिसे हम न्याय कहते हैं।"

इसी प्रकार का विचार मिल ने भी प्रकट किया है :

> "नैतिक धारणा के तौर पर प्रत्येक सिद्धान्त मे विश्वास और विवाद की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये चाहे वह (सिद्धांत) कितना ही नैतिकता-विरोधी क्यो न स्वीकार किया जाता हो।"

स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाने में एक धारणा यह भी काम करती है कि यदि किसी बुराई को रोकने के लिए कोई निरपराधी फाँसी चढ़ जाता है तो उपयुक्त है। यह वह चिन्तन-विधि है जिससे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का नाश हो जाता है और साहित्यकार और राज्य का परिस्परिक संघर्ष शुरू हो जाता है। दमन दो बुराइयों में से एक का चयन है। ये दो बुराइयाँ हिंसा और खतरनाक विचारों का प्रसार है। पहली बुराई का चयन इसी बुराई को रोकने के लिए किया जाता है क्योंकि दूसरी बुराई को अधिक घातक समझा जाता है। साहित्यकार खतरनाक विचारों के प्रचार को हिंसा और दमन से बेहतर समझता है क्योंकि खतरनाक विचारों का निर्णय इतिहास के हाथ में है।

यदि राज्य बुद्धि, तर्क, सहज प्रज्ञा, कल्पना, पर्यवेक्षण, अनुभव, अनुभूति और विवाद से प्राप्त हुई साहित्यकार की चेतना को संशय की दृष्टि से देखता है तो निजी विवेक की स्वतन्त्रता और वाद-विवाद की सामाजिक उपयोगिता को कायम रखने के लिए साहित्यकार राज्य पर अविश्वास प्रकट करने में न्याययुक्त है। यही कारण है कि साहित्यकार कम से कम काल्पनिक स्तर पर स्वातन्त्र्य की सुरक्षा के लिए राज्य के अस्तित्व को अराजकतावादी समाज से अधिक हानिकर समझता है ताकि वह इस सत्य को व्यक्त कर सके जिसकी अनुभूति उसने स्वयं प्राप्त की है।

साहित्यकार बनाम सत्ता

मेरे विचार मे सामान्य मानव-सभ्यता से लेकर अब तक लोगों की स्वतन्त्रता का जो हिंसात्मक दमन हुआ है, उसके मुकाबले मे ऐसी घटनाएं अधिक हैं जब धीरे-धीरे और मौन दमन से स्वतन्त्रता को नष्ट किया गया है। —मैडीसन

जब हम यह कहते हैं कि बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिए साहित्यकार काल्पनिक स्तर पर राज्य के अस्तित्व को अराजकतावादी समाज से अधिक घातक समझता है तो आलोचक हमें एकदम अराजकतावादी घोषित कर देंगे। लेकिन इससे राज्य की प्रकृति में कोई अन्तर नहीं आता। राज्य के लिए साहित्यकार की स्वतन्त्रता एक सहज उपकल्पना से अधिक महत्व नहीं रखती। राज्य अपने आपको समाज की प्रतिरक्षा के लिए उत्तरदायी समझता है और इस प्रतिरक्षा के लिए सेना, पुलिस, कानून न्यायालय और जेल के विशाल संगठनों की स्थापना करता है और राज्य अपना यह कर्त्तव्य समझता है कि समाजघातक चिन्तन, लेखन और भाषण पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाये। यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है कि साहित्यकार और राज्य का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? (यहाँ राज्य से अभिप्राय लिबरल प्रजातन्त्र है। सर्वसत्तावाद मे राज्य और साहित्यकार का एक ही सम्बन्ध है—साहित्यकार की दासता)। सर्वसत्तावाद में स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व नहीं होता। इसीलिए जब कोई साहित्यकार कहता है कि मुझे स्वतन्त्रता दो या मुझे मृत्यु दो तो उसे मृत्यु ही मिलेगी, स्वतन्त्रता नहीं। और यह लेनिन ने ही कहा था कि जब तक राज्य होगा, स्वतन्त्रता नहीं होगी और जब स्वतन्त्रता होगी तो

राज्य नहीं होगा। लेकिन यह स्मरण रहे कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की जननी न राज्य है, न उसका कोई अंग और न ही समाज। यह किसी से भेंट या उपहार में नहीं मिलती है। इसे कोई भी मनुष्य या संस्थान किसी भी स्थिति में छीन नहीं सकता। यह जन्मसिद्ध और अहरणीय है तथा सुरक्षा के नाम पर इसे कोई नहीं छू सकता।

राज्य और साहित्यकार के सम्बन्ध के दो पहलू हैं। साहित्यकार के प्रति राज्य अपनी सार्वभौमिकता का प्रयोग किस हद तक कर सकता है? और दूसरा यह कि क्या राज्य को साहित्य के प्रकाशन-प्रसार के लिए साहित्यकार को राज्याश्रय देना चाहिये?

पहले प्रश्न का उत्तर तो बहुत सरल है कि राज्य इसे स्वीकार करे (जो वह कभी नहीं करेगा और न कर सकता है) कि सृजन के लिए साहित्यकार की परम स्वतन्त्रता अनिवार्य है। साहित्यकार को एक नागरिक की हैसियत से हत्या, चोरी, डकैती और गबन के अपराध में दण्ड दिया जा सकता है लेकिन किसी भी अवस्था में उसे साहित्य सृजन के लिए बन्दी नहीं बनाया जा सकता। परन्तु राज्य लेखक की रचनाओं पर प्रतिबन्ध लगाये बिना नहीं रह सकता जिसके कारण राज्य और साहित्यकार का निरन्तर संघर्ष जारी रहा है। इसीलिए राज्य के प्रयत्न और साहित्यकार के सम्बन्ध एवम् अन्तर्द्वन्द्व का प्रश्न सदा विवादग्रस्त रहेगा। इतिहास साक्षी है कि राज्य की उत्पत्ति से लेकर आज तक साहित्य 'अथॉरिटी' और स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और एकाधिकार का युद्धक्षेत्र बना रहा है।

राज्य और साहित्य में मूल्य का मौलिक भेद भी है। राज्य का मूलभूत मूल्य शक्ति और प्रभुत्व है और इसी सार्वभौमिकता के आधार पर एक राज्य का सम्बन्ध दूसरे राज्य से स्थापित होता है। और अपने राज्य के अन्दर जनता और उसके समुदायों पर प्रभुत्व कायम किया जाता है। प्रजातन्त्रीय राज्य का यह दावा है कि उसकी शक्ति का आधार जनमत है और जब भी किसी साहित्यकार की स्वतन्त्रता पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो इसी जनमत की दुहाई दी जाती है जिसके प्रतिनिधियों ने स्वतन्त्रता का दमन किया है और इस प्रकार स्वतन्त्रता के दमन को लोकमत और न्याय पर आधारित सिद्ध किया जाता है।

कानून-विधि और साहित्य-अभिरुचि में अन्तर है। जन-मत कानून का आधार बन सकता है, साहित्यिक अभिरुचि का नहीं। इतिहास में कई उदाहरण

मिलते हैं जब कि राज्य ने जन-मत के नाम पर जिन विचारो का दमन किया है, वे सामाजिक उन्नति के लिए अत्यावश्यक थे, जब कि जन-मत गलत और सामाजिक उन्नति का विरोधी था। इब्सन की यह बात 'सिनिकल' समझी जा सकती है कि अल्पसख्यक गलत हो सकता है परन्तु बहुसख्यक सदा गलत होता है। लेकिन यह सही है कि साहित्यिक अभिरुचि के लिए जनमत को निकष नही बनाया जा सकता। इसके कई कारण हैं—बौद्धिक आलस्य, रूढिग्रस्त विचार, भय की वृत्ति, प्रचलित जीवन-विधि म परिवर्तन का खतरा, इत्यादि। इनसे रूढिग्रस्त विचार जन्म लेते हैं जिनको अन्धविश्वासो से बल मिलता है। जनसाधारण स्वयम् सोच-विचार करने के बजाय अभिजातवर्ग के निहित स्वार्थ के षड्यन्त्र का शिकार होकर उनका समर्थन करने लगते हैं। जनमत बहुसख्यक का अत्याचार है जिसे साहित्यिक अभिरुचि स्वीकार नही कर सकती। यदि साहित्यिक अभिरुचि का निर्णय भी मतगणना से किया जा सकता है तो जनमत का महत्व है, अन्यथा नही। यह बात स्पष्ट है कि साहित्यिक अभिरुचि का निर्णय जनता के बहुमत से नही हो सकता। इसीलिए प्रजातन्त्र म जनमत भी स्वतन्त्रता का दमन कर सकता है। प्रजातन्त्र में यह खतरा और भी बढ जाता है क्योकि राज्य अपनी शक्ति का प्रयोग जनमत के नाम पर करता है। इस प्रकार दमन को न केवल लोकप्रिय बनाने का यत्न किया जाता है बल्कि उसको नैतिक बल देकर निरन्तर जारी रखा जाता है। सामन्ती प्रथा मे इस दमन का सम्बन्ध सीधे अभिजातवर्ग से था। प्रजातन्त्र म इसको इस तरह विभाजित कर दिया गया है कि इसका प्रभाव तो कायम रहता है लेकिन शक्ति का प्रयोग कम नजर आता है। सर्वसत्तावाद म विरोधी विचारो को सगठित तरीके से नष्ट कर दिया जाता है। निरन्तर प्रचार के द्वारा जनमत को राज्य का क्रियायन्त्र बना दिया जाता है। कुछ बलि के बकरे और कुछ आदर्श बना लिये जाते है और फिर चिन्तन-स्वातन्त्र्य को उनके नाम पर नष्ट कर दिया जाता है।

दमन के कई रूप होते हैं—शारीरिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक इत्यादि। लेकिन राज्य अन्तिम रूप मे शारीरिक बल का प्रयोग करता है। प्रजातन्त्र अपने अत्याचार के समर्थन के लिए न्यायालयो और कानून की व्यवस्था को प्रस्तुत करता है और साहित्यकार को न्यायालय के कठघरे म अपराधी सिद्ध करके घोषित कर देता है कि न्याय हो गया। वह यह बात भूल जाता है कि जब किसी साहित्यिक कृति पर रोक लगायी जाती है तो इसका निर्णय साहित्यिक सिद्धान्तो से नही किया गया। साहित्यिक मूल्य और कानूनी मूल्य एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इसलिए न्याय की यह विधि

गलत है। न्याय के लिए ऐसा निकष चुन लिया गया है जो साहित्य के क्षेत्र में लागू नहीं हो सकता। साहित्यिक कृति के मूल्य का निर्णय स्वयम् साहित्यकार के अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता।

कोई राज्य, न्यायालय, कानून या जनमत या आलोचकों की समिति साहित्यकार के मूल्य को निश्चित नहीं कर सकती। कभी-कभी स्वयं साहित्यकार भी इसका निर्णय करने में असमर्थ होता है। (ब्राउनिंग ने अपनी एक कविता के सम्बन्ध में कहा था कि जब यह लिखी गयी तो इसका अर्थ मैं और ईश्वर जानते थे और अब केवल ईश्वर ही जानता है।)

वास्तव में बात यह है कि साहित्य एक आन्तरिक, आत्मिक और स्वाभाविक क्रिया है जब कि कानून बाह्य, सामाजिक और कृत्रिम विधि है। जब तक मूल्य के इस भेद को नहीं समझा जाता और दोनों को एक ही स्तर पर खड़ा किया जाता है, साहित्यकार की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में कोई सही मत स्थापित नहीं हो सकता। इसलिए राज्य जब भी साहित्यकार की स्वतन्त्रता का दमन करता है तो कानून के साथ किसी सामाजिक या नैतिक या राजनीतिक मूल्य को भी सम्बद्ध करके अपनी क्रिया को न्यायसगत बनाने की कोशिश करता है। वैसे भी देश और समाज की उन्नति और जनता की भलाई के नाम पर साहित्यकार को साधन के रूप में प्रयुक्त करने की त्रुटि प्रत्येक राज्य में होती है।

राज्य की सबसे बड़ी ट्रैजेडी यह है कि दमन के लिए उसे नैतिक मूल्यों का सहारा लेना पड़ता है और साहित्य के मुकाबले में उसकी पराजय का रहस्य भी इन नैतिक मूल्यों में निहित है। आजकल प्रजातन्त्र कल्याणकारी राज्य के नाम पर अपनी शक्ति का प्रयोग करते हुए कह सकता है कि पुलिस, सेना, शक्ति और 'अथॉरिटी' अब समाज सेवा, संस्कृति के विकास और जन-कल्याण का रूप धारण कर चुके हैं। जनसेवा के नाम पर नये प्रतिबन्धों का उचित ठहराया जाता है। लेकिन अनुभव बताता है कि साधन साध्य बन जाते हैं और स्वतन्त्रता की आत्मा नष्ट हो जाती है। (मुझे कल्याणकारी राज्य पर कोई आपत्ति नहीं। लेकिन साहित्य के क्षेत्र में उसके बेजा हस्तक्षेप पर आपत्ति है क्योंकि राज्याश्रय और राज्य निर्देशन से साहित्यकार की दृष्टि धुंधला जाती है। राज्य पुरस्कार और प्रतिकार के साधनों का प्रयोग करता है और स्वतन्त्रता खतरे में रहती है) साहित्यकार का सबसे बड़ा मूल्य दृष्टि के प्रति ईमानदारी है जो चिन्तन और सृजन की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता के बिना क्रियाशील नहीं होती और इस ईमानदारी के बिना स्वतन्त्रता का नारा लगाना ही अराजकतावाद है और इस ईमानदारी के होते हुए साहित्य पर राज्य के प्रतिबन्ध स्वीकार कर लेना दासता-वृत्ति है। ●

साहित्य, सूचना और सर्वसत्तावाद

युद्ध शान्ति है।
अज्ञान शक्ति है।
दासता स्वतन्त्रता है। —जार्ज आर्वेल (१९८४)

शब्द अपने अर्थ किस प्रकार बदलते रहते हैं, आर्वेल ने अपने उपन्यास '१९८४' मे 'न्यूस्पीक के उदाहरण से इसका भली भाँति परिचय दिया है। प्रत्येक शब्द के दो पक्ष होते हैं—भावात्मक और वर्णनात्मक। सी एल. स्टीवनसन ने 'नीतिशास्त्र और भाषा' मे लिखा है

> **"फर्ज कीजिए कि लोगो का एक समूह प्रजातन्त्र के कुछ पहलुओं की निन्दा करता है लेकिन दूसरे पहलुओ की प्रशंसा करता है। वह प्रजातन्त्र के वर्णनात्मक अर्थ को परिवर्तित नहीं करता मगर अपने प्रयोग के लिए लगातार इसे कम प्रशसनीय भावात्मक अर्थ प्राप्त करने देता है। इसके विपरीत वह इसका दृढ प्रशसनीय (भावात्मक) अर्थ तब्दील नहीं करता और प्रजातन्त्र को ऐसा वर्णनात्मक अर्थ प्राप्त करने देता है जिससे प्रजातन्त्र के केवल उन्हीं पहलुओं को (दूसरे अर्थों मे) व्यक्त किया जाता है जिसे वह पसन्द करता है।"**

नात्सी जर्मनी मे प्रजातन्त्र के वर्णनात्मक अर्थ को जारी रहने दिया गया लेकिन उसे एक निन्दनीय शब्द का दर्जा दे दिया। इसी प्रकार स्वतन्त्रता के वर्णनात्मक अर्थ मे कोई परिवर्तन नहीं किया गया मगर इसे निन्दनीय शब्द के रूप मे तिरस्कार का निशाना बना दिया गया। स्पष्ट है कि इस विधि को स्वीकार नही किया जा सकता। लेकिन इसका एक आशाजनक पक्ष भी है कि स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र के विरुद्ध निरन्तर प्रापेगॅण्डा के बावजूद नात्सी जर्मनी के साहित्यकारों ने बौद्धिक स्वातन्त्र्य के लिए संघर्ष जारी रखा।

सोवियत रूस मे प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के वर्णनात्मक अर्थ को अपने सर्वसत्तावाद को मजबूत करने के लिए बदल दिया गया। लेकिन एक प्रशंसनीय शब्द के रूप मे इसे कायम रहने दिया गया। इसलिए शीघ्र ही वहाँ के साहित्यकार एक ऐसी दासता का शिकार हो गए जिसे वे 'स्वतन्त्रता' का नाम देते हैं। इस प्रकार वे आन्तरिक तौर पर भी दास हो गए। इस विधि का उद्देश्य यह था कि स्वतन्त्रता के शब्द के वर्णनात्मक अर्थ को बिना उसके भावात्मक अर्थ मे परिवर्तन किये बदल दिया जाए ताकि वह लोगो की अनुकूल अनुभूति को नये विचार से सयुक्त कर सके। स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के अर्थ मे भावात्मक पहलू को कायम रखकर उसके वर्णनात्मक अर्थ मे परिवर्तन लाना अधिक खतरनाक है। इससे लोगो मे हानिकर विचारो का प्रचार करना अधिक सरल हो जाता है। निरन्तर प्रचार के द्वारा शब्द जब अपने अर्थ बदलना शुरू कर देते हैं तो समस्या अधिक जटिल हो जाती है। और साहित्यकार की स्वतन्त्रता खतरे मे पड जाती है। साहित्यकार अपनी बौद्धिक दासता को भी स्वतन्त्रता समझने लगता है।

अमरीका मे यह समस्या एक खतरनाक रूप धारण कर गई है। अमरीका 'प्रजातन्त्र' का पालना है जिसका जन्म 'स्वतन्त्रता' मे हुआ है। मैकार्थी युग म वहाँ भी स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र और शान्ति के वर्णनात्मक अर्थ मे परिवर्तन कर दिया गया था और इन शब्दो के भावात्मक पहलू को कायम रखा गया। प्रजातन्त्र का अभिप्राय एकाधिकार और शान्ति का अभिप्राय युद्ध बन गया। रूस का अनुयायी बनने के साथ-साथ अमरीकी प्रजातन्त्र ने नात्सी सर्वसत्तावाद से भी बहुत कुछ ग्रहण किया है। तटस्थता और लिबरलिज्म को निन्दनीय और 'अन-अमरीकी' शब्द घोषित कर दिया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि अमरीकी अभिजातवर्ग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे ही गुट-निर्पेक्षता को बुरा-भला नही कहते बल्कि अपने देश मे भी उदार साहित्यकारो और वैज्ञानिको को नीच 'विच्हण्ट' का शिकार बनाने लगे। एक दूसरे पहलू से भी अमरीका की 'विच्हण्ट' रूस की 'साफ' करने की नीति से अधिक हानिकर सिद्ध हुई। रूस मे उन लोगो को भी 'साफ' किया गया है जो स्वयम् सर्वसत्तावाद के अनुयायी थे परन्तु पारस्परिक गुटबन्दी का शिकार हो गए। लेकिन अमरीका मे दमन का शिकार अधिकतर वैज्ञानिक और ईमानदार *लोग हुए हैं। जिन्होंने विज्ञान को मानव प्रगति और विश्व शान्ति एवम्* समृद्धि के लिए प्रयुक्त करने का प्रयत्न किया है, वे 'विच्हण्ट' का शिकार बनाए गए हैं। अमरीका की यह नीति नात्सी जर्मनी की नीति से अधिक समानता रखती है। फासिज्म, साम्यवाद और 'प्रजातन्त्र' के आदर्श थाडे

बहुत परिवर्तन के बाद स्वतन्त्रता के लिए विनाशकर सिद्ध हुए हैं। स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए इनकी विधि का अधिक विस्तार से अध्ययन करना आवश्यक है। राजनीतिज्ञों के लिए स्वतन्त्रता केवल प्रभुत्व को प्राप्त और दृढ करने का साधन है जबकि साहित्यकार के लिए स्वतन्त्रता का प्रश्न जीवन और मृत्यु का प्रश्न है। उसके लिए स्वतन्त्रता साधन ही नही, साध्य भी है। साहित्य का सृजन और अध्ययन हमे स्वतन्त्र बनाता है। साहित्य की स्वतन्त्रता और सर्वसत्तावाद दोनो एक नही रह सकते।

आन्तरिक स्वतन्त्रता आत्म-नियन्त्रण मे निहित है। इसलिए इसकी हैसियत व्यक्तिगत है और इसका सम्बन्ध निजी नीति से है, जबकि अनिवार्य आन्तरिक स्वतन्त्रता जो आधुनिक राज्य प्रचलित करना चाहते है बाह्य नियन्त्रण से उत्पन्न होती है। अनिवार्य आन्तरिक स्वतन्त्रता एक राजनीतिक सिद्धान्त है जिसका सम्बन्ध सामाजिक नीति से है। साहित्यकार के लिए आन्तरिक स्वतन्त्रता अनिवार्य है और यदि साहित्यकार को आन्तरिक स्वतन्त्रता की अनुभूति को चिन्तन और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता प्राप्त नही तो वह उस सत्ता से पलायन करेगा, या आत्महत्या करेगा, मृत्यु स्वीकार करेगा या सृजनात्मक रूप मे मौन हो जायेगा। स्वतन्त्रता की अनुभूति और इस अनुभूति की अभिव्यक्ति साहित्य सृजन के लिए अनिवार्य है। नात्सी जर्मनी इस अनुभूति को नष्ट करने मे असफल रहा है क्योकि उसने स्वतन्त्रता के वर्णनात्मक अर्थ को जारी रखा और उसकी निन्दा की। लेकिन इसकी अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने मे सफल हो गया।

नात्सी जर्मनी म स्वतन्त्रता को समाप्त करने के लिए साहित्यकार को यहूदी-बोलशेविक और नान-आर्यन कहकर गोली से उडा दिया जाता है। रूस मे ट्राट्स्कीवादी, फासिस्ट, साम्राजी कहकर मौत के घाट उतार दिया जाता है और अमरीका मे हब्शी, कम्युनिस्ट, अन-अमरीकी घोषित करके दमन का शिकार बना दिया जाता है। नात्सी जर्मनी राज्य के नाम पर प्रजातन्त्र की बलि दे देता है। रूस प्रोलेतारी के नाम पर और अमरीका 'प्रजातन्त्र' के नाम पर ही दूसरे देशो मे अधिनायकवाद का समर्थन करता है। अमरीकी सम्कृति म अमरीकन जीवन-विधि, रूस म समाजवादी यथार्थवाद और नात्सी जर्मनी मे नॉर्डिक प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व आवश्यक है और इस प्रकार तीनो प्रथाएँ साहित्य और कला के मूल्य निश्चित करते हुए साहित्यकार की स्वतन्त्रता को छीन लेना चाहती हैं। △

साहित्यकार और स्याह स्वस्तिक

'हेल हिटलर, पेपरवेम फ़ीदम।"

"हम न गेटे की और न आइस्टीन की भूमि हैं और न बनना चाहते हैं।"

"हम जर्मन लोग कभी भी एक दूसरा गेटे पैदा नहीं कर सकते लेकिन एक सीज़र पैदा कर सकते हैं।"

—आस्वल्ड स्पेंगलर

सर्वसत्तावाद जब साहित्यकार की *स्वतन्त्रता* को नष्ट करने में असफल रहता है तो वह चिन्तन, लेखन और भाषण को मानव के शारीरिक स्तर पर ही खत्म कर देना चाहता है और उसके लिए झूठे प्रोपेगेण्डा, बहाने और छल-कपट के अतिरिक्त अमानुषिक हिंसा का प्रयोग करता है। प्रजातन्त्र में साहित्यकार की स्वतन्त्रता को प्रत्यक्ष हिंसा से खत्म करना सम्भव नहीं। वहाँ साहित्यकार को जीविका साधन से वंचित करके उसके अस्तित्व को खत्म करने का प्रयत्न किया जाता है। स्पष्ट है कि यह विधि सच्चे साहित्यकारों के लिए बहुत कम सफल हो सकती है, इसलिए आशा की किरण शेष रहती है। साहित्यकार को अपनी दृष्टि की अभिव्यक्ति का कोई-न-कोई साधन या अवसर प्राप्त हो जाता है। लेकिन पुस्तकालयों और कला-केन्द्रों को जलाकर राख कर देने, *साहित्यकारों*, कलाकारों और वैज्ञानिकों को देश-निर्वासन देने और गोली से उड़ा देने वाले देश में चिन्तन की स्वतन्त्रता तक नष्ट हो जाती है। और कुछ साहित्यकार तो अत्यधिक नैराश्य का इस हद तक शिकार हो जाते हैं कि जब उन्हें अपनी दृष्टि की सुरक्षा की कोई राह नहीं सूझती तो वे अर्न्स्ट टोलर और स्टीफन ज़्वोग की तरह आत्महत्या कर लेते हैं। लेकिन कुछ साहित्यकार *अन्तिम श्वास* तक अपना संघर्ष जारी रखते हैं।

हिटलर की समस्त चिन्तन विधि *रक्त*, *वंश* और भूमि की श्रेष्ठता पर आधारित है। हिटलर के कथनानुसार—

> 'संसार के ज्ञान में महान कार्य गैर वंश के लोगों ने नहीं बल्कि पूर्ण रूप से आर्य और जर्मन बुद्धिजीवियों ने प्रस्तुत किये हैं।"
>
> —हिटलर (भाषण १७ अप्रैल, १९३३)

रोज़ेनबर्ग के कथनानुसार

> "कला सदा किसी विशिष्ट रक्त का सृजन होती है और केवल उसी रक्त से सम्बन्ध रखने वाले लोग ही उसे समझ सकते हैं। रक्त व्यक्तिगत या निजी नहीं होता और न हो सकता है।"

इस प्रकार रक्त और वंश के आधार पर राज्य की सर्वसत्ता की स्थापना के लिए भूमि तैयार की जाती है।

> "अच्छे नॉर्डिक अपने रक्त से सोचते हैं। यहूदी, गैर-आर्यन, शान्तिप्रिय और मार्क्सवादियो जैसे तुच्छ लोग तार्किक चिन्तन को महत्व देते हैं। बौद्धिक चिन्तन से रक्त-चिन्तन सर्वथा श्रेष्ठ है।"

स्पष्ट है कि जिस देश मे तर्क और दर्शन अर्थात् हर प्रकार के बौद्धिक चिन्तन को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है, वहाँ बौद्धिक स्वातन्त्र्य का कोई प्रश्न ही नही उठता और इस बौद्धिक-स्वातन्त्र्य के बिना मनुष्य 'सिर पर चढ़े खून', पाशविक वृत्तियो और दानवी रक्त-लिप्सा के साधन के अतिरिक्त कुछ नही। वह मानव ही नही और इस कारण उसके लिए स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नही।

जब सब कुछ राज्य के लिये हो और उसके बाहर और विरुद्ध किसी वस्तु और विचार के अस्तित्व को सहन न किया जाए तो सृजनात्मक शक्ति, विवेक और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और चिन्तन अर्थात् किसी भी मानव-तत्व का अस्तित्व ऐसे राज्य मे कायम नही रह सकता। यह ऐसी गम्भीर स्थिति है जब साहित्य-सृजन से पूर्व स्वतन्त्रता की स्थापना का मूल्य आता है। यही कारण है कि जब जर्मनी के साहित्यकारो की सृजनात्मक प्रतिभा को नष्ट करने का प्रयत्न किया गया तो उनमे से बहुत-से निर्वासित साहित्यकारो ने नात्सी यातना-ग्रहो और कान्सेन्ट्रेशन कैम्पो की वहशत को डाक्यूमेण्ट्री अन्दाज से प्रस्तुत किया (इस प्रकार की रचनाएँ रूस से निर्वासित साहित्यकारो ने भी पेश की हैं)। यही कारण है कि वे साहित्य के क्षेत्र से सशस्त्र-क्रान्ति के समर्थक हो गए। ऐसी परिस्थिति म स्वतन्त्रता की सुरक्षा के लिए और कोई चारा भी नही। यह गर्व की बात है कि हिटलर अपने समस्त दानवी दमन के बावजूद उच्च कोटि के लेखको का समर्थन प्राप्त नही कर सका। उन्हे निर्वासित कर सका, लेकिन उनकी आत्मा को पराजित नही कर सका। जब उनकी दृष्टि पर आक्रमण हुआ तो वे आन्तरिक तौर पर प्रवास कर गए। स्वतन्त्रता की सुरक्षा म उन्होने अपनी दृष्टि की सुरक्षा की और परिणामस्वरूप अपनी सृजनात्मक प्रतिभा को सम्पन्न कर सके। 'हर जलाई गई पुस्तक ससार को आलोकित करती है'—एमर्सन का यह कथन जर्मनी मे कितना सही सिद्ध हुआ है। △

साहित्य, स्वातन्त्र्य और साम्यवाद

सोवियत साहित्य में समाजवादी यथार्थवाद के अतिरिक्त किसी और वाद का स्थान नहीं।

—सरकोव

साहित्यकार को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा सम्पन्न करने के लिए केवल चिन्तन और लेखन की स्वतन्त्रता ही पर्याप्त नहीं, बल्कि उसके लिए स्वातन्त्र्य की आन्तरिक अनुभूति भी आवश्यक है। जब भी साहित्यकार कानून, राज्य, बहुमत, प्रेम, रेडियो, फिल्म, जीविका, राजनीति, पार्टी धन इत्यादि के लिए अपनी दृष्टि की बलि देने को विवश होता है या किया जाता है, वह अपकृष्ट साहित्य की ही रचना करता है। उत्कृष्ट साहित्य-सृजन के लिए साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं विवेक के अनुकूल दृष्टि की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता अनिवार्य है। राजनीतिज्ञों के लिए स्वतन्त्रता अपने प्रभुत्व की स्थापना करने का साधन है और वे वैयक्तिक स्वतन्त्रता के दमन के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता और राजनीतिक स्वतन्त्रता जैसे शब्दों का सहारा लेते हैं। साहित्यकार के लिए स्वतन्त्रता एक 'एब्स्ट्रैक्ट' विचार और दार्शनिक शब्द है। उसके लिए स्वतन्त्रता साधन भी है और साध्य भी। लेकिन सर्वसत्तावाद में जब साहित्यकार राज्य को मजबूत करने का साधन बनाया जाता है और इस दासता से इन्कार करने वाले साहित्यकार को गोली से उड़ा दिया जाता है, तो ऐसी अवस्था में स्वतन्त्रता की समस्या साहित्य-रचना की स्वतन्त्रता से पहले दमन को खत्म करके प्रजातन्त्रीय चिन्तन-विधि की स्थापना बन जाती है। साम्यवाद में साहित्यकार की स्वतन्त्रता का यही अर्थ है।

साम्यवाद मे साहित्यकार की स्वतन्त्रता का एक पहलू और भी है। नात्सी जर्मनी मे चिन्तन, लेखन और भाषण की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाये गये। साहित्यकारो को यातना और मृत्यु का शिकार बनाया गया। लेकिन फिर भी नात्सी सर्वसत्तावाद, उच्च कोटि के साहित्यिकों को अपना दास बनाने मे असमर्थ रहा। साहित्यकारो ने अपनी दृष्टि को कायम रखा। लेकिन साम्यवाद मे साहित्यकार अपनी दृष्टि को कायम नही रख सका। उसकी स्वतन्त्रता की अनुभूति तक समाप्त हो गई—अर्थात् उस समय, जब उसकी स्वतन्त्रता उससे छिन रही थी तो वह समझ रहा था कि वह स्वतन्त्र हो रहा है। स्वतन्त्रता की इस आन्तरिक अनुभूति के नष्ट होने के बाद साहित्यकार बौद्धिक दासता का शिकार हो जाता है। राज्य और पार्टी की नीति के अतर्गत साहित्यरचना करके वह अपने-आपको स्वतन्त्र समझता है। वह यह तर्क प्रस्तुत करता है कि वह प्रचलित नीति को सही समझता है। सम्भव है कि वह उस नीति को सही समझकर उसके अन्तर्गत साहित्य रचता है। लेकिन जब उसे स्वतन्त्रता की आन्तरिक अनुभूति ही नही तो उसका कोई निर्णय नैतिक मूल्य का समावेश नही रखता। लेखक के लिए आध्यात्मिक और बौद्धिक स्वतन्त्रता अनिवार्य है और नैतिक मूल्य की चेतना के बिना स्वतन्त्रता का कोई महत्व नही।

साम्यवाद मे स्वातन्त्र्य की समस्या इसलिए भी जटिल हो गई कि साम्यवादियो ने स्वतन्त्रता के वर्णनात्मक अर्थ को बदल दिया, लेकिन उसके भावात्मक अर्थ को कायम रखा। रूस म स्वतन्त्रता एक वाछनीय शब्द है, लेकिन स्वतन्त्रता के अर्थ म परिवर्तन होन के कारण वह वास्तव मे बौद्धिक दासता का ही दूसरा नाम है। यदि साम्यवाद के चिन्तन और व्यवहार-इतिहास का आर्थिक विश्लेषण, अतिरिक्त मूल्य, वर्ग-सघर्ष, सामाजिक क्राति, प्रोलेतारियत का एकाधिकार, राज्यहीन-वर्गहीन समाज-को हम स्वीकार कर ले, तो रूस म स्वतन्त्रता है। लेकिन यदि इन शब्दो के क्षेत्र से बाहर व्यक्ति प्रतिभा, अन्तर्बोध तर्क, बुद्धि, पर्यवेक्षण, अनुभव, अनुभूति और कल्पना से अपन विवेक के अनुकूल अपनी दृष्टि को सृजनात्मक रूप देन का नाम स्वतन्त्रता है, तो स्पष्ट है कि रूस मे ऐसी स्वतन्त्रता का अस्तित्व नही है। इस प्रश्न का उत्तर बहुत सहज मगर महत्वपूर्ण है कि क्या रूस मे साहित्यकार को अपनी दृष्टि के अनुकूल साहित्य-सृजन की स्वतन्त्रता है? यदि उसकी दृष्टि राज्य की नीति के विरुद्ध है, तो क्या वह उसे व्यक्त कर सकता है? रूस म इसका उत्तर 'नहीं' है, क्योकि साहित्यकार को वे साधन उपलब्ध

नहीं, जिनके द्वारा वह अपनी दृष्टि की अभिव्यक्ति कर सके। वाद-विवाद, भाषण, लेखन, रेडियो, फिल्म, प्रेस, साहित्यिक समुदाय आदि पर राज्य का एकाधिकार है। केवल वही साहित्यकार 'स्वतन्त्र' है, जो राज्य और पार्टी की नीति के अनुकूल साहित्य-रचना करता है।

जब हम क्रांति के बाद साहित्य-नियन्त्रण और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अभाव का प्रश्न उठाते हैं, तो साम्यवादी हमें 'बुर्जुआ' के नाम से याद करते हैं। लेनिन ने ऐसे ही 'बुर्जुआ' साहित्यकारों को सम्बोधित करते हुए कहा है

> "बुर्जुआ व्यक्तिवादी महोदय, हम तुम्हें बता देना चाहते हैं कि सम्पूर्ण स्वतन्त्रता का तुम्हारा नारा मिथ्याचार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। धन की शक्ति पर आधारित समाज में, जहां लाखों मजदूर भिखमंगों का जीवन व्यतीत कर रहे हैं और मुट्ठी-भर धनी लोग अवकाश के क्षण गुजार रहे हैं, वहां सच्ची और वास्तविक स्वतन्त्रता का अस्तित्व नहीं हो सकता। साहित्यकार महोदय, क्या आप अपने पूंजीपति प्रकाशक से स्वतन्त्र हैं या अपने पूंजीग्रस्त पाठकों से मुक्त हैं जो उपन्यासों और चित्रों में अश्लीलता की मांग करते हैं? सम्पूर्ण स्वतन्त्रता केवल बुर्जुआ अराजकतावादी शब्द है। समाज में रहते हुए उससे मुक्त होना सम्भव नहीं। बुर्जुआ साहित्यकार और अभिनेताओं की स्वतन्त्रता का गुप्त या मिथ्या तौर पर गुप्त आधार धन की थैली पर है जिससे खरीदार कायम रखा जा सकता है। हम साम्यवादी इस कपट का भंडाफोड़ करते हैं। इस गलत नारे को झूठा सिद्ध करते हैं। इसलिए नहीं कि हम वर्गहीन साहित्य और कला प्राप्त कर सकें—क्योंकि वह तो केवल साम्यवाद में ही सम्भव है—बल्कि इसलिए कि एक वास्तविक स्वतन्त्र साहित्य पैदा हो, जो बुर्जुआ दास-साहित्य के विरुद्ध प्रकट रूप से प्रोलेतारी का साथ दे। ऐसा साहित्य स्वतन्त्र है। इसका आधार लालच और लालसा नहीं होंगे, बल्कि साम्यवाद का सिद्धान्त और श्रमजीवी वर्ग से सहानुभूति इसमें नया रक्त संचार करती रहेगी। ऐसा साहित्य मुक्त होगा, क्योंकि यह अभिजात वर्ग के कुछ हजार लोगों के मनोरंजन का साधन नहीं होगा, जो कि अपने सही और समान जीवन से असंतुष्ट हैं, बल्कि यह उन लाखों श्रमजीवियों

की सेवा का साधन होगा, जो देश का सर्वश्रेष्ठ भाग हैं, उसकी शक्ति और उसका भविष्य हैं।"

लेनिन ने साहित्यकारो की दुर्दशा पर जो सहानुभूति प्रकट की है, उसके लिए हम उनके आभारी है। इससे किसी को भी इन्कार नही हो सकता कि पूजीवाद म प्रकाशन-प्रसार की सस्थाओ पर कुछ लोगो का एकाधिकार स्थापित हो गया है, जिसके कारण साहित्यकार अपनी दृष्टि के अनुकूल साहित्य की रचना नही कर सकता और उसे साहित्य को भी विक्रय-वस्तु बनाना पडता है। वह कलाकार से अधिक 'क्राफ्ट्समैन' बनता जा रहा है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या साम्यवाद मे साहित्यकार प्रकाशन-प्रसार के एकाधिकार से मुक्त है? साम्यवाद म प्रकाशन-प्रसार का एकाधिकार राज्य के पास है—उस राज्य के पास, जो साम्यवादी दल का क्रियायन्त्र है। साम्यवादी दल का अभिजातवर्ग जिस रचना को 'प्रोलेतारियत-हित' के विरुद्ध समझता है, वह प्रकाशित नही हो सकती। इस प्रकार पूजीवाद के अन्तर्गत प्रकाशन प्रसार की अर्ध दासता को साम्यवाद मे बदल दिया जाता है। प्रजातन्त्र मे प्रकाशन-प्रसार के एकाधिकार की प्रवृत्ति के बावजूद ये सस्थाए पूर्ण रूप म 'रेजिमटेशन' करन मे असफल रही हैं, जिसके कारण विविध विचारो की रचनाओ का प्रकाशन सभव हुआ है। साम्यवाद मे केवल एक दृष्टिकोण-साम्यवादी दृष्टिकोण—ही प्रसारित हो सकता है। साम्यवादी दृष्टिकोण से अभिप्राय साम्यवादी दल की प्रचलित रीति-नीति से है। इस नीति को कोई साहित्यकार चुनौती नही दे सकता—जब कि यह नीति सदा परिवर्तनशील रहती है अर्थात् जब तक यह नीति प्रचलित है, उसे पूर्ण रूप से सही समझना आवश्यक है। उस पर सदेह प्रकट करना या उसका विरोध करना बुर्जुआ, समाजवादी, फासिस्ट, ट्राट्स्कीवादी आदि प्रवृत्तियाँ हैं, जिनका परिणाम मृत्यु या श्रम शिविर अथवा पागलखाने मे बन्दी जीवन है। और यदि वह नीति बदल जाती है, तो पूर्व नीति को गलत नही, बल्कि नई नीति को सही मानना आवश्यक है, चाहे नई नीति पूर्व नीति के विरोध म ही क्या न हो। वह गलत इसीलिए नही कि साम्यवादी अभिजातवर्ग कभी गलती नही करता। नई नीति भी इसीलिए सही है कि साम्यवादी अभिजात-वर्ग हमेशा सही होता है अर्थात् साहित्यकार को पूव नीति अपने दिमाग म बहिष्कृत कर देनी चाहिए जैसे कि ऐसी नीति का कोई अस्तित्व ही नहीं था। यह साहित्यकार की चेतना का दोष था कि वह बुर्जुआ प्रवृत्तियो का शिकार हो गया। यदि साहित्यकार इस नई नीति को सही नही समझता और पूर्व नीति पर ही कायम रहता है, उसे मस्तिष्क से निष्कासित नही

करता, तो उसे प्रोलेतारियत के विरुद्ध साहित्य रचने के अभियोग मे 'साफ' या 'शुद्ध' कर दिया जाता है। राज्य साहित्यकार के मस्तिष्क की सफाई के लिए उसकी सहायता करता है। वह इतिहास को नये सिरे से लिखता रहता है, जिसके कारण पूर्व नीति का वर्णन इतिहास से गायब कर दिया जाता है और नई नीति के अनुकूल घटनाओ को नये सिरे से गढा जाता या उनकी व्याख्या की जाती है, जिससे यह सिद्ध हो कि साम्यवादी नीति सदा से ऐसी ही रही है। साम्यवादी दल कभी भी गलती नही कर सकता। गलती तो व्यक्ति करते हैं, जिन्हे इसका उचित दण्ड मिलना चाहिए। साम्यवादी राज्य मे 'सत्यता' का अस्तित्व कायम नही रह सकता। वहाँ केवल एक ही सचाई है—राज्य की सचाई। राज्य की सचाई को स्वीकार करने मे विवश साहित्यकार को वहाँ इतनी स्वतन्त्रता है कि वह भविष्य की नही, विगत की रचना भी कर सकता है।

जब साहित्यकार के आश्रय का एकाधिकार केवल राज्य को ही प्राप्त हो, तो वह प्रजातन्त्र मे विभिन्न एकाधिकारो की तुलना में अधिक सम्पूर्ण दासता है। साम्यवादी कह सकते है कि रूस मे प्रकाशन को अत्यधिक विस्तार मिला है और साहित्यकार और वैज्ञानिक सबसे अधिक धनी लोग हैं। यूँ तो दूसरे यूरोपीय देशो के साहित्यकार भी धन कमा रहे हैं—स्वतन्त्रता से भी और दासता से भी। लेकिन रूस मे साहित्य से जीविका कमाने की केवल एक ही शर्त है—साम्यवादी अभिजातवर्ग की दासता। इलिया एहर्नबर्ग रूस के धनी साहित्यकारो मे से था और उसकी 'दृष्टि' का यह हाल था कि जब तक स्तालिन जिन्दा था, वह उसके गुण गाता रहा और स्तालिन की रक्तपात की क्रूर नीति उस पर प्रकट न हुई। और स्तालिन की मृत्यु के बाद जब नये नेतृत्व ने स्तालिन को आततायी सिद्ध किया, तो एहर्नबर्ग पर भी यह वास्तविकता खुली। प्रश्न यह है कि यदि स्तालिन आततायी था, तो एहर्नबर्ग और दूसरे साहित्यकारो ने पहले कभी उसका विरोध क्यो नही किया? ऐसे साहित्यकार अपनी 'अज्ञानता' का बहाना प्रस्तुत कर सकते हैं। लेकिन जब दुनिया-भर मे लाखो पृष्ठ स्तालिन-युग के रक्तपात और दमन का भण्डाफोड करने के लिए लिखे गए, तो उन्होने क्या महसूस नही किया कि स्तालिन रक्तपात की नीति पर अमल कर रहा है? कम से कम रूस के साहित्यकारो की ओर से सशय तो प्रकट किया जाता। यदि वे इस आलोचना से परिचित नही थे तो इसका अभिप्राय यह है कि रूस मे सेन्सरशिप इतनी कडी है कि साहित्यकारो की पहुँच विरोधी विचारो तक हो ही नही सकती अर्थात् वहाँ अभिव्यक्ति और जानकारी प्राप्त करने की कोई स्वतन्त्रता नही। या उन्हे

दमन का ज्ञान था, परन्तु वे विवश थे, दास थे। यह भी सम्भव है कि वे स्तालिन की नीति को सही समझते हो। तो फिर उन्हे आधुनिक नेतृत्व का विरोध करना चाहिए था। परन्तु उन्होने तो ऐसा करने के बजाय नये नेताओ की नीति को भी स्वीकार कर लिया है। जैसा हम पहले कह चुके है कि मृत्यु के भय के कारण उनके लिए नयी नीति का समर्थन करना अनिवार्य है। एस साहित्यकार साहित्यकार ही नही, न उनकी कोई अपनी दृष्टि है और न दृष्टि की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता। वे आन्तरिक तौर पर भी दास हैं। यदि उनकी कोई दृष्टि है और वे मृत्यु के भय के कारण उसको व्यक्त नही करते, तो वे अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदार नही और बिना ईमानदारी के दृष्टि अधिक देर तक कायम नही रह सकती। दृष्टि का दमन साहित्यकार की सृजन शक्ति को नष्ट कर देता है।

रूस के एक साहित्यकार सरमेव ने कहा है कि सोवियत साहित्य मे हम समाजवादी यथार्थवाद के अतिरिक्त और किसी वाद को स्वीकार नही करते। जब भी किसी देश मे केवल एक मत को प्रकट करने की आज्ञा होगी, स्वतन्त्रता खत्म हो जायेगी। विभिन्न मत जब एक-दूसरे से टकराते है, तो स्वतन्त्रता जन्म लेती है। हगरी मे रूस के सैनिक आघात-जैसी बडी घटना हो गई, मगर रूस के पत्रो मे इसके विरोध मे एक शब्द भी नही छपा या लोग कुछ कह नही सके या उनका विवेक इतना मुर्दा हो गया था कि वे इस अत्याचार को सहन कर गए। सहज प्रज्ञा इस बात को स्वीकार नही करती कि रूस के सब लोग इस समस्या पर एकमत हैं। यदि ऐसा ही है, तो वहाँ की जनता या तो अज्ञानी है या मूख। तीसरी सूरत मे वे दास हैं। इसके विपरीत इगलैंड का उदाहरण लीजिए। स्वेज की समस्या पर सरकार को अपने देश के पत्रो और जनमत का सामना करना कठिन हो गया था। वियतनाम म अमरीकी आक्रमण की सबसे अधिक आलोचना अमरीका मे हुई। *सी आई ए, एफ बी आई और पेन्टागन का* परदाफाश अमरीकी पत्रकारो द्वारा ही सम्भव हो सका।

जिन देशो के साहित्य मे विरोधी और विविध वाद प्रचलित हैं उनमे रगारगी और जीवन-शक्ति है जब कि रूस का तथाकथित साहित्य सतही प्रचारात्मक और यात्रिक होकर रह गया है। रूस म एक ट्रेजेडी यह भी है कि वे लोग, जो अपने विवेक की कद्र नही करते, लेकिन किसी कारण अभिजात वर्ग उसकी निन्दा कर देता है, वे भी गोलो का निशाना बना दिए जात हैं। और यदि वे साम्यवादी नीति को स्वीकार करते हुए अपनी दृष्टि का प्रयोग करते हैं तो उनका अपमान करके उनकी जीविका छीन ली जाती है।

आखमतोवा (जिसे कभी आधुनिक पुश्किन की पदवी दी गई थी) को कहा गया कि हमारा साहित्य साहित्य-मार्केट की विधि रुचि की सन्तुष्टि के लिए व्यक्तिगत प्रयत्न नहीं। हमारे साहित्य में ऐसे चिन्तन और अनुभूति की आवश्यकता नहीं जो सोवियत लोगों की नैतिकता और विशिष्टता से सयुक्त न हो। यही अन्त आधुनिक चैकोव जोशेंको का हुआ। साहित्यकारों की यूनियन से उन्हें निकाल दिया गया और उनकी रचनाएं प्रकाशित होना बन्द हो गईं। सितम तो यह कि १९३६ में यूनियन ऑफ सोवियत राइटर्स के प्रेज़िडियम में यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ कि साहित्यकार न केवल अपनी सम्पूर्ण रचनाएं यूनियन के सामने प्रस्तुत करें बल्कि अपनी अलिखित रचनाओं के स्केच और योजनाएं भी उन्हें दिखायें। इसी प्रकार चीन में भी एक बड़े पैमाने पर साहित्य को कम्युनिस्टों की पार्टी एण्टरप्राइज़ बनाने के लिए कहा गया। उनकी 'पार्टी एण्टरप्राइज' का शिकार ह्यू फेंग जैसे प्रतिभाशाली लेखक को होना पड़ा। रूस के सर्वसत्तावाद के सम्बन्ध में हावर्ड फास्ट के शब्द काफी विचारणीय हैं

> **"स्वतन्त्रता के बिना कोई भाईचारा नहीं हो सकता और बिना स्वतन्त्रता के स्नेह के फूल नहीं खिल सकते।"**

रूस में साहित्य साहित्यकार की निजी सृजनात्मक प्रतिभा की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि पार्टी, राज्य और प्रोलेतारियत की तरह इसे भी सामूहिक बना दिया गया है। साहित्य की रचना और साहित्यिक अभिरुचि सदा आत्मिक प्रतिभा से विकसित होते हैं और उनमें विविधता आवश्यक शर्त है। लेकिन जब कलाकारों और साहित्यकारों को प्रोलेतारी (वास्तव में साम्यवादी-अभिजात-वर्ग) के एकाधिकारों को पुष्ट करने के लिए 'पार्टी-लाइन' के अनुकूल साहित्य-सृजन करना पड़ेगा, तो उनका परिणाम भी वही होगा, जो नात्सी जर्मनी में बुद्धिजीवियों का हुआ। स्वतन्त्रताप्रिय साहित्यकारों को यदि अपने विवेक की दासता, दृष्टि की नीलामी, नकरदा गुनाहों की मौन स्वीकृति पार्टी-लाइन का समर्थन या आत्महत्या स्वीकार नहीं, तो उन्हें शारीरिक स्तर पर ही नष्ट कर दिया जाता है। लेनिन ने 'पार्टी-अतिरिक्त साहित्यकार मुर्दाबाद' का नारा लगाया और साहित्य को 'पार्टी-एण्टरप्राइज़' घोषित किया था। इसीलिए सोवियत रूस में साहित्य और लेखक को कठोरतम सेंसरशिप का शिकार होना पड़ा और इसके लिए १९-६ में प्रस्ताव भी पास किया गया। यहाँ तक कि साहित्यकार की अपूर्ण या आयोजित कृतियों की रूप-रेखा और योजना को भी सेंसरशिप के लिए प्रस्तुत करने के लिए कहा गया।

रूस में आर्थिक एकाधिकार और राज्य मिलकर साहित्य की स्वतन्त्रता नष्ट करते हैं। यह ठीक है कि प्रजातन्त्र में भी राजनीति पर पूंजीवादी नियन्त्रण है और राज्य थैली का आजीवन दास बन गया है, लेकिन राज्य और पूंजी की विलीनता सम्पूर्ण नहीं। विज्ञान और पूंजी के एकाधिकार के कारण प्रजातन्त्र भी सर्वसत्तावाद का रूप धारण कर रहा है। विशेष रूप में अमेरिका में तो साहित्यकार की स्वतन्त्रता को निकट और तीव्र खतरा पैदा हो गया है। जिन लोगों को सर्वसत्तावाद के क्रूर दमन की चेतना है, उनके लिए जनतन्त्रीय चिन्तन-विधि और उदार मूल्यों के लिए संघर्ष करना आवश्यक है। अन्यथा रूस और नात्सी जर्मनी की तरह सर्वसत्तावाद कायम हो जायेगा। आप यह कहते हैं कि यदि स्वतन्त्रता अमरीका में भी सम्भव नहीं, तो आप रूस की ही निन्दा क्यों करते हैं? निजी तौर पर मैं इसका उत्तर यह दूंगा कि मैं पूंजीवाद को मानव उन्नति और उच्च मूल्यों का विरोधी समझता हूं और समाजवाद को जनता के कल्याण के लिए अनिवार्य समझता हूं। इसलिए समाजवादी त्रुटियों की ओर ध्यान देना आवश्यक है, ताकि हम एक दासता से मुक्त होकर दूसरी दासता का शिकार न हो जायें। मैं इस तर्क को गलत समझता हूं कि साम्यवादी आन्दोलन पर पूंजीवाद के संगठित आक्रमण के समय ऐसी आलोचना आन्दोलन को कमजोर करती है। मेरा विश्वास है कि स्वतन्त्रता केवल स्वतन्त्रता से ही प्राप्त हो सकती है और सर्वसत्तावाद से सर्वसत्तावाद ही पुष्ट होगा। हिंसा और दमन से स्वतन्त्रता का आदर्श प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमारे साधन ही अन्त में हमारे साध्य बन जाते हैं। साधन और साध्य के बारे में मैं साम्यवादी सिद्धान्त को सही स्वीकार नहीं करता। जिस समाजवाद में न्याय और कानून का शासन, जनतन्त्र, नागरिक स्वतन्त्रता, विरोधी-दल, आलोचना, विरोध की स्वतन्त्रता, स्वतन्त्र न्यायालय, ज्यूरी के द्वारा निर्णय, अपने विरुद्ध गवाही न देने की वैधानिक सुरक्षा विद्यमान न हों, वहां कानूनी न्याय भी सम्भव नहीं, नैतिक न्याय तो बड़ी दूर की बात है। उसे क्या समाजवाद कहा जायगा? शुद्धियां, राजनीतिक विरोधियों को मृत्युदण्ड और यातना से अपराध-स्वीकृति की विधियां सामान्य मानवीय स्वतन्त्रता के भी विरुद्ध हैं।

साम्यवादियों की बौद्धिक दासता इस हद तक गहन हो चुकी है कि जब रूस में होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध संसार में विरोध हुआ और डाकूमेण्ट्री साक्ष्य पर सैकड़ों पुस्तकें और पैम्फ्लेट प्रकाशित हुए, तो साम्यवादियों ने उन्हें 'झूठ का पुलिन्दा' और 'साम्राज्यवादी षड्यन्त्र' कहकर लांछित किया। लेकिन स्तालिन की मृत्यु के बाद ख्रुश्चेव की गुप्त रिपोर्ट में जब इन अत्या-

चारो का भण्डाफोड किया गया, तो दूसरे देशों में इस समाचार को शुरू शुरू में 'बुर्जुआ षड्यन्त्र' का नाम दिया गया। लेकिन जब अधिकृत रिपोर्ट प्रकाशित हो गई, तो साम्यवादी ऐसे चकित रह गए जैसे कि यह कोई नई बात है, यद्यपि रूस की इन शुद्धियों और हत्याकाण्डों के समर्थन में लगातार तर्क प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। मानव-विवेक और बुद्धि की दासता की यह कितनी बड़ी ट्रैजेडी है कि इतने भयंकर हत्याकाण्ड हुए, लेकिन साम्यवादियों की अन्तरात्मा में कोई चुभन नहीं हुई, और वे साम्राज्यवादी एजेण्टों' के 'साफ' होने पर गर्व और प्रसन्नता ही प्रकट करते रहे। और यह ट्रैजेडी यू भी भयानक है कि साम्यवादी स्वतन्त्रता के लिए जेल की यातनाएँ सहते रहे हैं और फाँसी के तख्ते पर झूलते रहे हैं। अपने आदर्श की प्राप्ति के लिए बलिदान करते रहे हैं। लेकिन वे यह स्वतन्त्रता दूसरों को नहीं देना चाहते और दूसरों की स्वतन्त्रता को नष्ट करने के लिए वही विधियाँ प्रयोग में लाते है, जिनके शिकार वे स्वयं रह चुके हैं। तानाशाही चाहे व्यक्ति की हो या प्रोलेतारी या बहुमत या पार्टी की, प्रत्येक अवस्था में वह है तो *तानाशाही* ही। व्यावहारिक तौर पर प्रत्येक तानाशाही व्यक्ति की तानाशाही होती है या अधिक से अधिक पार्टी के अभिजात-वर्ग की। और अपनी तानाशाही को कायम रखने के लिए उसे बलि के बकरों की आवश्यकता रहती है। स्तालिन ने जिन्हें वह अपना शत्रु समझता था, उनको ट्राट्स्कीवादी कहकर गोली का निशाना बनाया और रूस की आधुनिक तानाशाही ने स्तालिनवादियों को मौत के घाट उतार दिया। स्तालिन के जिस अत्याचार पर आँसू बहाए गये, उन्हीं अत्याचारों को जारी रखा गया। साम्यवादी राज्यसत्ता इसके बिना कायम हो नहीं रह सकती। यह व्यक्ति पूजा का दोष नहीं, बल्कि साम्यवाद के मौलिक ढाँचे की वृत्ति ही ऐसी है। इस ट्रैजेडी का एक पहलू और भी है कि ये अत्याचार पूंजीवादियों पर नहीं *किया गया*, बल्कि स्वयं साम्यवादियों को ही गोली मारी गई और यह समस्त प्रश्न न ईमानदारी और विवेक का है, न स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र का, बल्कि नग्न शक्तिलिप्सा का है। शक्ति लिप्सा के इस संघर्ष में ईमानदारी, विवेक, निरीहता और साहित्य सब नष्ट कर दिए जाते है। एक समय था जब मन्सूर 'अनलहक' (ब्रह्मास्मि) कहकर सूली पर चढ़ गया था। लेकिन आज साम्यवादी व्यवस्था में गोली का निशाना बनाने से पहले यातना द्वारा विवश होकर अपराध-स्वीकृत करना आवश्यक है।

जो लोग स्वतन्त्रता का मूल्य नहीं समझते, उनको ये सारी बातें शायद व्यर्थ और अर्थहीन प्रतीत हों। पर मेरा अभिप्राय केवल यही बताना है कि

व्यक्तित्व, विवेक, दृष्टि और सृजनात्मक प्रतिभा को जब राज्य, पार्टी, बहुमत, ख्याति और धन के लिए त्याग दिया जाता है, तो साहित्यकार दास हो जाता है और यह दासता उसकी दृष्टि को धुधला कर उसकी रचनात्मक प्रतिभा नष्ट कर देती है। अहवादी, फासिस्ट, साम्राज्यवादी एजेण्ट, ट्राट्स्कीवादी और बुर्जुआ जैसे नाम देकर साहित्यकार की स्वतन्त्रता-प्रिय आत्मा को दास बनाने के सब प्रयत्न निष्फल हैं। स्वतन्त्रता के बिना साहित्यकार क्या, कोई भी मनुष्य पाशविक स्तर से ऊपर नही उठ सकता। स्वतन्त्रता न केवल जीवन का तत्व है, बल्कि सृजनात्मक शक्ति को व्यक्त करने वाली महान प्रेरणा भी है।

मुझे इस बात का तो खेद है कि इतने बडे देश म से स्वतन्त्रता लुप्त हो गई, लकिन इस बात का अधिक दुख है कि हममे ऐसे लोग भी मौजूद हैं, जो दूसरे देशो के स्वतन्त्रता-विरोधी कुछ कानूनो और कार्यों का नाम लेकर रूस म स्वतन्त्रता के इस महानाश का समर्थन करते हैं—हालाँकि स्वतन्त्रता का दमन जहाँ भी हो, जिस तरह भी हो उसका तीव्र विरोध होना चाहिए, चाहे अमरीका का स्मिथ-ऐक्ट हो या उसकी अन-अमेरिकन कमेटी मैकार्थीवाद हो या रोज़नबर्ग-दम्पत्ति की कानूनी हत्या या भारत का 'आँसुका' या प्रतिरोधक नजरबन्दी का कानून। लेकिन यह नही भूलना चाहिए कि इन देशो में स्वय लोगो ने इनका कडा विरोध किया और इन विरोध का दमन नही किया जा सका। लेकिन रूस म तो विरोध का प्रश्न तक नहीं उठता वर्ना स्तालिनशाही कैसे कायम रह सकती थी? और स्तालिन को आततायी कहने के लिए उसकी मौत की प्रतीक्षा न करनी पडती। इसीलिए मैं इस बात पर जोर देता हूँ कि रूस मे स्वतन्त्रता की भावना एव चेतना तक नष्ट हो गई है।

शब्दो के काल्पनिक अर्थों की परिधि से बाहर निकल कर विचार करें तो यह स्वीकार करना मुश्किल नही कि विरोधी दल, कानून का राज्य, विचारो, भाषण और प्रेस की स्वतन्त्रता इत्यादि स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए अनिवार्य हैं। रूस म क्यो विरोधी-दल की स्थापना नही हो सकती, क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी सर्वहारा वर्ग की एकमात्र प्रतिनिधि है। और रूस मे सर्वहारा वग का राज है। दूसरे राजनीतिक दल बुर्जुआ होगे। तब फिर विरोधी-दल के अभाव म कौन स्तालिन के अत्याचारो को रोक सकता था—पार्टी? वह तो असमर्थ रही। आलोचना और आत्मालोचना तो पुस्तको म ही बन्द रह गई और स्तालिन को ९९ प्रतिशत से अधिक वोट मिलते रहे, जिसमे सदा ख्रुश्चेव का वोट भी शामिल था। और स्तालिन का हत्यारा

सिद्ध करने वाले ख्रुश्चेव को ९९ प्रतिशत से अधिक वोट मिलते हैं और इसमें उन लोगों के वोट भी शामिल हैं, जिन्होंने स्तालिन के अत्याचारों के समर्थन में वोट दिए थे। क्या यही केन्द्रीय प्रजातन्त्रवाद है? तानाशाही वैसे भी स्वतन्त्रता के प्रतिकूल है और फिर तानाशाही सर्वहारा वर्ग की नहीं होती, पार्टी की होती है और पार्टी की भी नहीं होती, एक व्यक्ति की होती है, वर्ना सर्वहारा वर्ग स्तालिन को ९९ प्रतिशत वोट देने के बजाय उसके विरोध में मुर्दाबाद के नारे लगाता। पर क्या स्तालिन के जिन्दा रहते हुए इसकी कल्पना भी की जा सकती थी? और आज भी क्या गारण्टी है कि पार्टी और कोसिगिन भविष्य में वैसी ही गलती नहीं करेंगे, तो कौन उन्हें रोक सकेगा? कौन उनका विरोध कर सकता है? मालकोव को प्रधान मन्त्री बना दो, तो सब तालियाँ पीटेंगे और मालकोव को हटा दो और बुल्गानिन को प्रधान मन्त्री बना दो, तो भी सब तालियाँ पीटेंगे? और फिर बुल्गानिन को हटाकर ख्रुश्चेव का नाम प्रस्तावित कर दो, तो सब तालियाँ पीटेंगे। क्या सितम है? रूस में आदमी बसते हैं या मशीनें? क्या वहाँ कोई एक भी मूर्ख, कोई जाहिल, कोई पागल आदमी नहीं, जो १३७८ प्रतिनिधियों में खड़ा होकर इस प्रस्ताव का विरोध कर सके? क्या किसी पत्र-पत्रिका में इसका विरोध सम्भव है? इसीलिए मैं यह कहता हूँ कि साम्यवाद और स्तालिनवाद एक ही बात है। साम्यवाद में जनता का मस्तिष्क 'कंडीशंड' हो जाता है। मार्क्सवाद का मूल सिद्धान्त ही 'कंडीशनिंग' है जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद का नाम दिया गया है। मार्क्सवाद के अनुसार मनुष्य अपने युग की उत्पादन विधि से 'कंडीशंड' होता है। उसका दर्शन और साहित्य, संस्कृति और राजनीति इसी उत्पादन विधि से निश्चित होती है। रूस के लोग वहाँ के सामूहिक समाजीकरण से 'कंडीशंड' हो चुके हैं। इसीलिए यदि वे कठपुतली की तरह स्तालिन से लेकर ब्रेजनेव तक हर नेता के अन्ध समर्थन में हाथ उठा देते हैं, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इतनी 'कंडीशनिंग' तो जार के युग में भी नहीं थी। यहाँ तक कि कम्युनिस्ट पार्टी में भी बोलशेविक और मेन्शेविक दल बन सकते थे। लेकिन एक-दूसरे का सफाया नहीं किया जा सकता था। विरोधी दल की बात तो छोड़िए, क्या साम्यवाद में यह भी सम्भव है कि कुछ लोग ख्रुश्चेव के बजाए बुल्गानिन को ही प्रधान मन्त्री बनाने के लिए आवाज उठा सकें? दूसरे देश के कम्युनिस्टों की तो और भी दयनीय हालत है। उन्होंने बेरिया की हत्या का समर्थन किया। आखिर उन्हें तो स्तालिन ने मजबूर नहीं किया था। वे 'कंडीशंड' हो चुके हैं और 'कंडीशंड' आदमी स्वतन्त्र नहीं हो सकता, उसमें

इच्छा-स्वातन्त्र्य का कोई स्थान नही।

अत्याचार और दमन की चक्की मे पिसते हुए लोगो को एक उज्ज्वल भविष्य की कल्पना देकर इस दमन को सही और अनिवार्य सिद्ध किया जाता है। प्रत्येक डिक्टेटर को अपना आधिपत्य जमाने के लिए इस प्रकार के 'यूटोपिया' की जरूरत होती है। मार्क्सवाद ने अपने तर्क से राज्य के लुप्त होने के 'यूटोपिया' को जन्म दिया है—वैसे ही, जैसे धर्म के अन्तर्गत स्वर्ग की कल्पना की गई है ताकि लोग इस धरती पर अपनी दयनीय और दर्दनाक जिन्दगी भूल जायें और उसे भाग्य-फल समझकर ग्रहण कर लें। अत्याचर के विरुद्ध विद्रोह रोकने के लिए साम्यवादियो ने इस पर बडा जोर दिया है। साम्यवाद एक नया धर्म है, इसमे एक नये ईश्वर की उपासना की गई है। लेकिन यह ईश्वर पत्थर का देवता सिद्ध हुआ और हावर्ड फास्ट के विचार मे अपने नग्न भयानक रूप मे प्रकट हो चुका है। इसीलिए मेरा विचार है कि प्रत्येक तानाशाही अन्त मे एक व्यक्ति की तानाशाही बन जाती है, कम-से-कम मजदूरा के साथ इतना न्याय तो होना चाहिए कि उनके नाम पर एक आदमी की तानाशाही स्थापित न होने दी जाय।

स्तालिन और लेनिन की साहित्यिक विचारधारा म भी कोई अन्तर नही। वास्तव म साहित्य को पथभ्रष्ट करने और उसे पार्टी-साहित्य' बनाने मे लेनिन की जिम्मेदारी सबसे अधिक है। स्तालिन ने लनिन के सिद्धान्तो को ही कार्यान्वित किया है। लेनिन ने १९०५ मे प्रकाशित अपने लेख 'पार्टी-आगन और 'पार्टी-साहित्य' मे लिखा है

> 'साहित्य को अवश्य ही पार्टी-साहित्य बनना होगा। समाजवादी सर्वहारा को पार्टी साहित्य के सिद्धान्त को विकसित और प्रसारित करना चाहिए और इस सिद्धांत को जहाँ तक सम्भव हो, अत्यधिक सम्पूर्ण और सगठित रूप मे प्रस्तुत करना चाहिए। समाजवादी सर्वहारा के लिए साहित्य कुछ व्यक्तियों या एक समूह के लिए लाभ का साधन नहीं। इसका उद्देश्य सर्वहारा के सामूहिक उद्देश्य से पृथक और स्वतन्त्र होकर व्यक्तिगत नहीं, बल्कि इसमे पार्टी के बाहर के साहित्यकारो और साहित्य की भर्त्सना भी शामिल है—गैर-पार्टी साहित्यकार मुर्दाबाद, सुपरमैन साहित्यकार मुर्दाबाद।"

साहित्यकार का सबसे बडा धर्म है–सृजन। सृजन के लिए साहित्यकार की

सृजनात्मक प्रतिभा अनिवार्य है। जब तक साहित्यकार में आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की क्षमता और स्वतन्त्रता है, वह स्वतन्त्र है—चाहे उसकी मानसिक और शारीरिक दशा कैसी भी क्यों न हो और वह किसी भी प्रकार के राजनीतिक या आर्थिक वातावरण में क्यों न हो। यूं तो कोई भी व्यक्ति पूर्ण रूप से स्वतन्त्र नहीं। यदि वह राजनितिक या आर्थिक दासता का शिकार नहीं, तो अपनी मानसिक दुर्बलताओं, विकृतियों और विवशताओं का शिकार हो सकता है। लेकिन इसके बावजूद यदि वह आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की क्षमता रखता है, तो वह स्वतन्त्र है। यदि कोई साहित्यकार पागलपन के फिट या शराब के नशे में कोई रचना करता है और उसकी आध्यात्मिक अभिव्यक्ति हो जाती है, तो वह स्वतन्त्र है। यदि वह पागलपन और नशे में इस अभिव्यक्ति के योग्य नहीं रहता, तो वह दास है। उसमें और साधारण पागल में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी प्रकार मानसिक या शारीरिक तौर पर रुग्ण व्यक्ति भी जब तक इस अभिव्यक्ति के योग्य है, वह स्वतन्त्र है। मोपासां, बादलेयर और वानगो के उदाहरण आपके सामने हैं। वास्तव में स्वतन्त्रता का सम्बन्ध साहित्यकार की सजगता से है। इसके अभाव में स्वतन्त्रता का कोई महत्व नहीं।

इस स्वतन्त्रता के बाद दूसरा प्रश्न आता है धारणा-निर्माण का। जब साहित्यकार अपनी सजगता और दृष्टि को धारणा का रूप देता है तो धारणा-निर्माण में साहित्यकार स्वतन्त्र सङ्कल्प और विकल्प का अधिकार रखता है। उसकी स्वतन्त्रता में प्रतिबन्ध यहाँ से शुरू होते हैं जब कुछ बाह्य तत्व भी शामिल होने शुरू हो जाते है, क्योंकि इस धारणा-निर्माण में साहित्यकार भाषा की शरण लेता है, जो बहुत हद तक दासता का अस्त्र बन सकती है और बनती भी है। जार्ज आर्वेल ने अपने उपन्यास '१९८४' में 'न्यूस्पीक' के उदाहरण से यह स्पष्ट किया है कि किस प्रकार भाषा के अर्थ बदलकर विचारों के विकल्प को समाप्त करके उन्हें 'कंडीशंड' कर दिया जाता है, जिसके कारण सजगता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मैं तो यह समझता हूँ कि स्वतन्त्रता साहित्यकार की सजगता की सजगता है। एक उच्च कोटि का साहित्यकार प्रतीकों और वैयक्तिक कल्पनाओं द्वारा इस दासता से भी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। नात्सी जर्मनी में बहुत से साहित्यकारों ने इन्हीं प्रतीकों और वैयक्तिक कल्पनाओं द्वारा अपनी दृष्टि को कायम रखा और अपनी सजगता का साक्षात्कार करने में सफल हो गए। वास्तव में वे मानसिक रूप में दूर हट गए। पर सबसे बड़ी बात लेखक की स्वतन्त्र दृष्टि और

सजगता को व्यक्त करने की है। और इस पर प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं। साहित्यकार की स्वतन्त्रता का प्रश्न उठाने वालो ने बुनियादी गलती यही की कि उन्होंने स्वतन्त्रता की समस्या को इस स्तर पर समझने की कोशिश की है जो कि काफी हद तक राजनीतिक और आर्थिक प्रश्न है। स्वतन्त्रता का पहला स्तर आध्यात्मिक अभिव्यक्ति और दूसरा सजगता है। यदि साहित्यकार स्वतन्त्र है तो वह आन्तरिक तौर पर सजगता की सजगता रखता है। तीसरा स्तर है उसकी दृष्टि और सजगता को धारणा का रूप देना। इस सम्बन्ध मे लोगो मे कई प्रकार के भय उत्पन्न किए जाते है। बचपन मे ही मनुष्य की धारणा-निर्माण क्रिया पर राज्य नियन्त्रण करता है। दूसरे समस्त विचारो को दबा दिया जाता है, या उन्हें विकृत तौर पर पेश किया जाता है। प्रेस और दूसरे साधनो पर राज्य का सम्पूर्ण नियत्रण होने के कारण लोगो मे सजगता ही नही रहती। आन्तरिक दासता यही है। यही कारण है कि हम इस प्रकार के गलत निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आर्थिक समता से स्वय ही साहित्यिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। रूस मे राज्य साहित्यकार की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की धारणा-निर्मातृ-क्रिया को नियन्त्रित करता है—इस प्रकार साहित्यकार की धारणाए नये अर्थो के आधार पर विकृत हो जाती हैं और फिर नियत्रण और निरन्तर प्रोपेगेण्डा द्वारा विरोधी धारणाओ को रोक दिया जाता है। इस कारण साहित्यकार मानसिक तौर पर 'कडीशड' हो जाता है। चू कि 'कडीशनिंग' वाह्य तौर पर उसके आन्तरिक जीवन का होता है, इसलिए साहित्यकार की स्वतन्त्रता की अनुभूति ही नष्ट हो जाती है।

साम्यवाद म स्वतन्त्रता एक भौतिक वस्तु है और उसका मापदण्ड भौतिक समृद्धि है। यदि एक व्यक्ति को रोजाना एक अण्डे के बजाय दो अण्डे मिलने शुरू हो जाये तो वह अधिक स्वतन्त्र हो गया और यदि एक देश मे गेहूं का उत्पादन पहले से दुगुना हो गया, तो उस देश मे स्वतन्त्रता की मात्रा भी दुगुनी हो जायगी। इस दृष्टि से तो अमरीका सबसे अधिक स्वतन्त्र देश होना चाहिए तथा रूस और भारत कम।

पू जीवाद और साम्यवाद दोनो इस व्याख्या पर एकमत हैं। कम्युनिस्ट भी राजकीय पू जीवाद ही है, क्योकि दोनो ही स्वतन्त्रता का मूल्य भौतिक विकास से निश्चित करते हैं। इस तरह वास्तव मे पू जीवाद और साम्यवाद म कोई मौलिक अन्तर नही। सारा झगडा तो इस बात का है कि उत्पादन के साधनो का स्वामी कौन हो ? ऐसे लोग उच्च मूल्य और मौलिक मूल्य को

गड़मड कर देते हैं। उच्च मूल्य का सम्बन्ध सृजन से है और मौलिक मूल्य का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के रिश्ते अर्थात् रोटी, कपड़े और मकान से है। उच्च मूल्य की प्राप्ति के बिना भी हम मौलिक मूल्य को प्राप्त कर सकते हैं, लेकिन उच्च मूल्य की प्राप्ति के लिए किसी हद तक मौलिक मूल्य का उपलब्ध होना आवश्यक है। इससे यह परिणाम निकलता है कि मौलिक मूल्य अर्थात् रोटी कला से अधिक महत्वपूर्ण है। अगर साहित्यकार केवल शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को कायम रखना चाहता है और आत्मा की स्वतन्त्रता को नीलाम कर देता है, तो रोटी कला से अधिक महत्वपूर्ण हो जाती है।

आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब आत्मा ही नहीं होगी, तो आत्मा की स्वतन्त्रता अर्थहीन है—अर्थात् जीवन सृजन के लिए अनिवार्य है। ऐसे आलोचक यह भूल जाते हैं कि जीवन स्वातन्त्र्य का ही नाम है, अन्यथा पशु-स्तर पर जीवन शरीर का अस्तित्व है। पशु-स्तर पर शरीर के अस्तित्व से मृत्यु हर हालत में श्रेष्ठ है (शरीर का मोह स्वतन्त्रता नहीं) सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् अर्थात् उच्च मूल्यों के बिना भी हम (साहित्यकार नहीं) जीवित रह सकते हैं। लेकिन रोटी के बिना न हम जीवित रह सकते हैं और न उच्च मूल्यों में दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन ये भौतिक वस्तुएं प्राप्त करने के लिए यदि दृष्टि की बलि देनी पड़े, तो उच्च मूल्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अमीरी अथवा गरीबी सृजन की प्रेरक या बाधक नहीं। यह सम्पूर्ण रूप में व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रश्न है। और हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि मौलिक मूल्य उच्च मूल्य का आधार नहीं, केवल एक साधन मात्र है। इसलिए उच्च मूल्य मानव की सौन्दर्यानुभूति के लिए अनिवार्य है। मनुष्य की नीति, सृजन, दर्शन और उच्च भावना का स्रोत यही उच्च मूल्य हैं, जिनके लिए साहित्यकार भूख, बेकारी, निर्धनता और मृत्यु स्वीकार करता है, क्योंकि उच्च मूल्य के बिना मौलिक मूल्य जीवन का तत्व ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। इसके बिना मानव-जीवन का महत्व ही समाप्त हो जाता है।

साहित्य का सम्बन्ध राज्याश्रय या भौतिक सुरक्षा से कायम नहीं किया जा सकता। आर्थिक विषमताओं में भी उच्च कोटि का साहित्यिक सृजन हुआ है। जबकि राज्याश्रय और भौतिक उन्नति के अन्तर्गत अपकृष्ट साहित्य लिखा गया है। साहित्यिक अभिरुचि सरकारी सरपरस्ती और भौतिक उन्नति से मुक्त होती है। प्रतिभा न बाह्य प्रेरणा से पैदा होती है और न उसके अभाव में मरती है। वह अपनी सृष्टा स्वयं है। उसकी सृजन-प्रतिभा को सक्रिय करने के लिए एक ही शर्त काफी है-स्वतन्त्रता, सृजन की स्वतन्त्रता। △

बोरिस पास्तेर्नाक: अभिव्यक्ति का संकट

लोग भूलते जा रहे थे कि रूस में अब भी एक ऐसा प्रतिभा-सम्पन्न कवि जिन्दा है, जो अपनी 'विज़न' के अतिरिक्त और किसी में आस्था नहीं रखता। लेकिन जो लोग उसकी कविता के पुजारी है, जिनके हृदय अब भी 'माई सिस्टर लाइफ' और 'बादलों का जोड़ा' की स्मृति से धड़क रहे हैं, बार-बार यह प्रश्न पूछते हैं, पास्तेर्नाक कहा है? वह क्या कर रहा है? वह मौन क्यों है? लेकिन पास्तेर्नाक मौन नहीं था, उसके हृदय में एक व्यथा थी जो प्रत्येक द्रष्टा कवि के भाग्य में होती है। जिसके स्वप्न भयानक यथार्थ में बदल जाते हैं और जिसकी विज़न की अभिव्यक्ति के सब मार्ग बन्द कर दिये जाते हैं। जब कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं काग्रेस के बाद 'स्वतन्त्रता युग' शुरू हुआ तो पास्तेर्नाक ने आजादी की साँस ली और 'सुरक्षित' अनुवादों से हट कर उसने एक उपन्यास प्रस्तुत किया 'डा जिवागो'। इस उपन्यास को वह कई वर्षों से लिख रहा था। जब यह उपन्यास प्रकाशन के लिए पेश किया गया तो इसकी बड़ी प्रशंसा हुई। यहाँ तक कि इसकी टाइप्ड स्क्रिप्ट प्रति इटालियन कम्युनिस्ट अजेलो के द्वारा इटली के प्रसिद्ध कम्युनिस्ट प्रकाशक फेल्ट्रिनेली को इतालियन और फ्रांसीसी भाषाओं में प्रकाशित करने के लिए दी गयी।

फिर समाचार मिला कि रूसी पत्रिका 'नोवीमीर' ने 'डा जिवागो' की कड़ी आलोचना की। परिणामस्वरूप इसके प्रकाशन को रोक दिया गया। कहा यह भी जाता है कि रूसी सरकार ने एक विशेष प्रतिनिधि इटली भेजा कि इटली के प्रकाशक को 'डा जिवागो' के प्रकाशन से रोक दिया जाये।

लेकिन इस प्रकाशक ने रूसी सरकार की 'प्रार्थना' को ठुकरा दिया (हंगरी काण्ड के बाद यह प्रकाशक कम्युनिस्ट पार्टी से पृथक हो गया था।) अब वह रूसी सरकार के आदेश का पालन करने के लिए बाध्य नही था और इटली और यूरोप की अन्य भाषाओ मे 'डा. ज़िवागो' प्रकाशित हो गया।

लोग आश्चर्य मे पड गये कि बात क्या हो गई कि रूस मे 'डा जिवागो' का प्रकाशन रोक दिया गया। 'स्वतन्त्रता युग' मे यह तानाशाही कैसी? बात बहुत बडी हो गई थी। रूस मे इस 'स्वतन्त्रता युग' से प्रभावित होकर कुछ लेखको ने वर्षों से दबी चिंगारी को सुलगाना शुरू कर दिया और रूसी सरकार की आलोचना करने लगे। इलिया एहर्नबर्ग ने था' लिखा और ददीन्सतीव ने 'नॉट बाई ब्रेड एलोन'। इन उपन्यासो की कुछ प्रशसा हुई और कुछ आलोचना। आलोचना का सार यह था कि ये रूसी सत्ता पर चोट है। लेकिन इसके साथ-साथ यह आवाज भी सुनाई दी कि यह साम्यवाद पर नही, बल्कि नौकरशाही पर चोट है जिसे 'कल्ट ऑव पर्सनेलिटी' ने जन्म दिया है।

कुछ समय तो यह क़िस्सा चलता रहा। लेकिन फिर रूसी सरकार की मशीन का चक्कर उल्टा घुमा दिया गया। पार्टी के पत्रो ने इन 'स्वतन्त्र' लेखको के विरोध मे जहर उगलना शुरू कर दिया कि ये लेखक 'स्वतन्त्रता' का अनुचित लाभ उठा रहे हैं और इसे निजी स्वार्थ' के लिए इस्तेमाल कर रहे हैं। यह साम्यवादी यथार्थवाद के विरोधी है और दयरशोव ब्रदर्स'। जैसे उपन्यास लिखे जाने लगे, जिनमे बुद्धिजीवियो पर भरपूर आघात किया गया और 'स्वतन्त्रता युग' के भयकर परिणामो से रूसी मजदूरो और राज्य को चेतावनी दी गयी, 'कम्युनिस्ट' और 'प्राव्दा' ने इन उपन्यासो की जी भर कर प्रशसा की और इनके विश्लेषणो को सही घोषित किया। लेखक और बुद्धिजीवी नि सन्देह खतरनाक हैं। पोलैण्ड मे इन्होने ही स्वतन्त्रता आन्दोलन को शक्ति प्रदान की और हगरी की ट्रेजेडी का कारण भी यही लेखक थ। क्रेमलिन न महसूस किया कि लेखक की लेखनी की नोक तोड दी जाय। स्वतन्त्रता की आवश्यकता सबसे अधिक लेखक को हो है। साहित्य-सृजन और स्वतन्त्रता का घनिष्ठ सम्बन्ध है। और यदि लेखक स्वतन्त्र हो गया तो कोई तानाशाही और नौकरशाही अधिक देर तक टिक नही रह सकती। अत 'एक नेता-एक दल' देश मे लेखक की स्वतन्त्रता से बढकर कोई खतरा नही। चालीस वर्षों की तानाशाही के बाद भी रूस की 'मोनोलिथिक' सरकार एक पुस्तक से डरने लगी। यदि कोई सत्ता इतनी

दुर्बल है कि एक पुस्तक के प्रकाशन से उसकी नाव डोलने लगती है तो उस सत्ता का अन्त निकट है और यदि यह सही है तो इस पुस्तक के बिना भी वह समाप्त हो जायेगी। एक वृद्ध कवि के मुकाबले मे उद्‌जन बमो और बैलिस्टिक मिज़ाइल से लैस सरकार का भयभीत होना और उसे कुचलने के लिए पार्टी, राज्य प्रेस रेडियो, मच और टेलिविज़न की समस्त शक्ति को हरकत म लाना साहित्यकार की शक्ति को सिद्ध करता है। पास्तेर्नाक को इससे अधिक और क्या खुशी मिल सकती थी। इससे एक बात यह भी स्पष्ट हो गई कि जार्ज आर्वेल का '१९८४' सम्भव नही। मनुष्य के हृदय मे सत्य की खोज का नन्हा-सा दीप सदा जलता रहेगा। उसे कोई भी झोका बुझा नही सकता।

जब पास्तेर्नाक को नोबल पुरस्कार दिया गया तो रूसी सरकार को जैसे अपने आन्दोलन का तर्क मिल गया। एक सोवियत विरोधी उपन्यास को पुरस्कार देना साम्राजी षड्यन्त्र है। सोवियत रूस के विरुद्ध पश्चिमी देशो की एक और चाल है। और पास्तेर्नाक रूसी जनता, प्रजातन्त्र और शान्ति का शत्रु है।

> ऐसी साहित्य कृति को पुरस्कृत करना जो गन्दी तथा द्वेष-पूर्ण है, सोवियत राज्य के विरुद्ध शत्रुतामूलक राजनीतिक काय है पास्तेर्नाक पर जो सम्मान थोप दिया गया है, वह बडा नहीं है। उसे यह पुरस्कार दिया गया क्योंकि सोवियत विरोधी प्रचार की गन्दी बिसात पर उसने प्यादा बनना पसन्द किया ···· पास्तेर्नाक को उसके राजनीतिक और नैतिक ह्रास, समाजवाद, शान्ति और प्रगति के 'कॉज़' और सोवियत जनता से गद्दारी के कारण नोबल पुरस्कार से सम्मानित किया गया है ताकि शीतयुद्ध को तीव्र किया जा सके।' —लितेरातुर्नाया गजेता

रूस ने स्वय ही इस पुरस्कार को शीतयुद्ध का अस्त्र बना दिया। इस शीतयुद्ध मे पश्चिमी देश उनके लेखक, नोबल पुरस्कार कमेटी-सब लपट मे आ गये। पश्चिमी देशो के समाचार पत्रो को भी जैसे एकदम ज्ञान प्राप्त हो गया कि पास्तेर्नाक एक महान लेखक है और उसकी खबर मुखपृष्ठ पर नजर आने लगी। स्थिति का गम्भीर अध्ययन करने की अपेक्षा एक 'आलोचक' ने शह पाकर यहाँ तक कह दिया

> "पास्तेर्नाक सूअर है जो उस स्थान को गन्दा करता है, जहाँ वह

खाता है और रहता है। उसने वह किया है जो एक सूअर भी नहीं करता।"

उस समाज की कल्पना कीजिए जिसमें एक श्रेष्ठ कवि को सूअर कहा जाता है और लोग मौन रहते हैं। सितम यह कि उसे टेलिविजन के द्वारा प्रसारित किया जाता है। यह कैसी स्वतन्त्रता है, जिसमें एक श्रेष्ठ कवि की पुस्तक प्रकाशित नहीं हो सकती लेकिन एक आलोचक की गालियाँ प्रसारित हो सकती हैं, उस पुस्तक के बारे में जिसे सोवियत जनता जानती तक नहीं। रूस में जब पुस्तक का अस्तित्व तक भी नहीं तो उसकी आलोचना निरर्थक है और फिर लोग कैसे जान सकते हैं कि पास्तेर्नाक के विरुद्ध लेख लिखने वाले और भाषण देने वाले सत्य कह रहे हैं या डॉ. जिवागो एक अपकृष्ट रचना है। विवेक की कितनी महान ट्रैजेडी है कि दूसरे देशों के कम्युनिस्ट इस बर्बरता के समर्थन में लेख लिखते हैं और रूसी सरकार की आलोचना करने वालों को साम्राजी एजेण्ट घोषित करते हैं। ऐसी ही घटना नात्सी जर्मनी में हुई थी जब कार्ल आसीड्जकी को १९३५ में शान्ति के लिए नोबल पुरस्कार दिया गया था और जर्मनी की नात्सी सरकार ने उसे पुरस्कार स्वीकार नहीं करने दिया और बेचारे आसीड्जकी की गुमनामी में मृत्यु हो गई।

रूसी सरकार ने अपने व्यवहार के तर्क के लिए यह प्रश्न बार-बार दुहराया है कि यदि नोबल पुरस्कार राजनीतिक नहीं तो इससे पूर्व किसी रूसी लेखक को यह पुरस्कार क्यों नहीं दिया गया। रूसी लेखक बुनिन को यह पुरस्कार इसलिए दिया गया कि वह देशद्रोही श्वेत रूसी था। रूस में टाल्स्टाय, चेकोव या गोर्की को यह पुरस्कार क्यों नहीं दिया गया। लेकिन यदि टाल्स्टाय को यह पुरस्कार दिया जाता तो वे यह कह सकते हैं कि गोर्की को यह सम्मान क्यों नहीं मिला। या क्रान्ति के बाद किसी सोवियत लेखक को पुरस्कार से क्यों वंचित रखा गया है। वे भूल जाते हैं कि यदि साहित्यिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो नोबल पुरस्कार का मिल जाना यह सिद्ध नहीं करता कि वह लेखक संसार का सर्वश्रेष्ठ लेखक है या जिन लेखकों को यह पुरस्कार नहीं मिला, वे अपकृष्ट लेखक हैं। जहाँ तक पुरस्कार के योग्य बनने का सम्बन्ध है, इस पर कोई एकमत नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि नोबल पुरस्कार कमेटी आधुनिक राजनीतिक परिस्थितियों से मुक्त नहीं। आठ वर्षों के मानसिक संघर्ष के बाद आइसलैण्ड के प्रसिद्ध लेखक लेक्सेस को नोबल पुरस्कार दिया गया। इस मानसिक दुविधा का

कारण यह था कि लेगमेंस वामपक्षी लेखक है। सम्भव है, पास्तेर्नाक के केस म भी नोबेल पुरस्कार कमेटी इस 'शीतयुद्ध' का शिकार रही हो। यद्यपि पास्तेर्नाक को पुरस्कृत करने का विचार पाँच वर्षों से चल रहा था। यह भी सम्भव है कि कमेटी ने डिप्लोमेटिक चाल चली हो कि घोषणा मे उन्होंने डा. 'ज़िवागो' का उल्लेख नही किया बल्कि पास्तेर्नाक की साहित्यिक सेवा को स्वीकार किया है। यदि रूस नोबल पुरस्कार को राजनीतिक शीतयुद्ध का अस्त्र स्वीकार करता है तो उसने सोवियत वैज्ञानिकों को दिये गये नोबल पुरस्कार के विरोध मे आन्दोलन क्यों नही चलाया। (सोवियत यूनियन वैज्ञानिकों के विरुद्ध कोई कार्यवाही नही कर सकती—वे उसकी शक्ति हैं) और क्या सोवियत सरकार ने जो स्टालिन या लेनिन पुरस्कार दिये हैं या देती है, वे राजनीतिक नही हैं। वे उन्ही लोगो को दिये गये हैं जो सोवियत रूस की नीति के अनुयायी हैं। क्या किसी सोवियत विरोधी को भी यह पुरस्कार दिये गय हैं। लक्सनिवस्ट को जो लेनिन पुरस्कार दिया गया है, उसम कहा गया है कि उसे अमरीका के विरुद्ध आन्दोलन चलाने के लिए पुरस्कृत किया जाता है। एक प्रश्न यह भी है कि रूस म इस पुरस्कार से पूर्व ही डा ज़िवागो का प्रकाशन रोक दिया गया। इसलिए बात पुरस्कार की नही बल्कि 'डा ज़िवागो' की है, जिसमे सोवियत रूस के सिद्धान्तो और क्रियाओ की आलोचना की गई है। स्वतन्त्रता का अभिप्राय यह नही कि उन लोगो का स्वतन्त्र' समझा जाय जो रूसी सत्ता की प्रशसा करते हैं और जो उसकी आलोचना करे, उसे 'देशद्रोही' कहा जाय, उसे सोवियत लेखकों की यूनियन से अलग कर दिया जाये, उसे 'सोवियत लेखक' कहलाने का अधिकार न दिया जाये, जिसका अभिप्राय यह हुआ कि उसके लिए लेखक की हैसियत से जीविका कमाने का अब कोई साधन नही। पास्तेर्नाक के विरुद्ध पास किये गये एक प्रस्ताव मे उसे अपने देश म ही निर्वासित कहा गया है। वास्तव म वह अपने देश मे ही निर्वासित था।

पास्तेर्नाक को लोगो से प्यार था, वह उनके दुख-दर्द मे शामिल था। पास्तेर्नाक सच्चा देशभक्त था। वह इस पुरस्कार और अपनी पुस्तक की रायल्टी से दूसरे देशो म आनन्द का जीवन व्यतीत कर सकता था, लेकिन वह रूस म इसलिए रहना चाहता था कि वह इस भूमि और इसकी जनता से आध्यात्मिक और शारीरिक तौर पर सम्बद्ध था।

> "मैं रूस में ही रहना चाहता हूँ और रूस मे ही रहूँगा। मैं जन्म, जीवन और सृजन से रूसी हूँ और मेरा भविष्य रूस से अलग

नहीं। इससे बाहर नहीं। मेरी गलतियां कुछ भी रही हों लेकिन पश्चिम में मेरे नाम से सम्बन्धित जो आन्दोलन चलाया जा रहा है, मैं उसे समझ नहीं पा रहा।"

यह एक सच्चे, निष्ठावान, मानववादी देशभक्त कवि की आवाज थी। इससे पूर्व पास्तेर्नाक ने पुरस्कार अस्वीकार करते हुए कहा था .

"जिस समाज मे मैं रहता हूँ, उसमे इस सम्मान का क्या अर्थ लिया जा रहा है, उसे देखते हुए मैं इस सम्मान को अस्वीकार करने के लिए विवश हूँ। मैं इसके योग्य नहीं।"

पास्तेर्नाक ने शहीद बनने की कोशिश नही की। बल्कि रूसी जनता के साथ उसके दुख मे जिन्दा रहने की वेदना को अधिक महत्व दिया है। यही उसके सर्जन का स्रोत है।

रसेल ने कहा

"मैं रूसी जीवन प्रणाली से दुखी हूँ।' और फास्ट ने लिखा है, 'मेरे विचार में मेरे जीवन मे रूस मे इससे अधिक अपमानजनक घटना नहीं हुई जैसा कि पास्तेर्नाक के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया जा रहा है।"

यहाँ तक कि पावलो नरूदा ने कम्युनिस्ट पार्टी से त्यागपत्र देने का विचार भी प्रगट किया।

लेखक को विज़न की स्वतन्त्रता देना एक महान कृति की रचना की मूल शर्त है और एक सभ्य समाज को इस बात पर गर्व होना चाहिए कि उस समाज म ऐसे लेखक, कवि और चित्रकार है जो ख्याति, धन, पार्टी, या राज्य के दास नही, बल्कि अपनी 'विज़न' और अपने विवेक म आस्था रखते है। △

साहित्यकार और शीतयुद्ध

ससार का यह दुर्भाग्य तो है ही कि उसमे शान्ति जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रहा। राजनीतिज्ञो के लिए तो युद्ध ही शाश्वत यथार्थ है। यदि शान्ति है तो उसे 'शीतयुद्ध' कहते हैं और यदि शान्ति नहीं तो उसे 'गरम युद्ध' कहते है। और अब तो इस विचार मे विश्वास रखने वाले कुछ व्यक्ति ऐसे भी हैं जो मनुष्य के लिए युद्ध का वही स्थान समझते हैं जो मातृत्व का स्त्री के लिए है। यह 'गरम युद्ध' राजनीतिज्ञो के लिए तो अत्यन्त महत्वपूर्ण है लेकिन अब सरकार, पार्टी और 'धन के दास' राजनीतिग्रस्त आलोचको ने साहित्य और साहित्यकार के विरुद्ध भी 'शीतयुद्ध' का आन्दोलन शुरू कर दिया है और इस 'शीतयुद्ध' की लपेट से बडे से बडे लेखक भी नही बच पाये।

राजनीति मे 'शीतयुद्ध' के अर्थ से हम सब परिचित हैं। लेकिन साहित्य मे 'शीतयुद्ध' को जारी रखने वालो की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है यद्यपि शान्ति को खतरे में डालने वाले 'शीतयुद्ध' के विशेषज्ञो की भाँति साहित्य मे 'शीतयुद्ध' के समर्थक साहित्य और कला के उच्चतम मूल्यो को भी तनाव और कशमकश का शिकार बना रहे हैं। जिस प्रकार राजनीति—विशेषज्ञ ससार को दो भागो मे विभक्त कर देते हैं, उसी प्रकार साहित्य और साहित्यकार को भी दो क्षेत्रो मे विभाजित कर दिया जाता है। साहित्य मे 'शीतयुद्ध' और साहित्यकारो का पक्तिबद्ध होना साहित्यिक और कलात्मक मूल्यो के कारण नहीं बल्कि उन्ही राजनीतिक कारणो के लिए है जिनसे राजनीतिक क्षेत्र म 'पावर लॉक' और 'शीतयुद्ध' की नीति पर अमल किया जा रहा है।

सार्त्र का ही उदाहरण लीजिये। प्रगतिवादी लेखकों में जब भी सार्त्र का जिक्र आता था तो उसे पतनोन्मुख, 'बुर्जुआ' 'प्रतिक्रियावादी' 'अपकृष्ट' इत्यादि की पदवी मिलती थी। उनके लिए सार्त्र 'बुर्जुआ' साहित्य का प्रतिनिधि था। इसके विपरीत अप्रगतिशील साहित्यकारों के लिए सार्त्र न केवल फ्रांस बल्कि संसार के महान लेखकों में था।

जब सार्त्र ने अमरीकी जीवन विधि की कडी आलोचना की, और एक नाटक भी लिखा 'निक्रासोव' जिसमें पूंजीवादी पत्रों की रूस-विरोधी सनसनी-खेज मनोवृत्ति, धन के लोभ और विकृत प्रचार को व्यंग्य का निशान बनाया और न केवल यही, बल्कि शान्ति सम्मेलन में भी भाग लेना शुरू कर दिया तो प्रगतिवादी आलोचकों के लिए इतना काफी था और सार्त्र बुर्जुवा, प्रतिक्रियावादी, पतनशील, अपकृष्ट, ह्रासोन्मुख लेखक से एकदम उत्कृष्ट और सहृदय लेखक बन गया। अब उसके साधारण लेख भी उत्कृष्ट साहित्य में गिने जाने लगे क्योंकि प्रगतिवादी साहित्यकारों के लिए उसका शान्ति सम्मेलन में जाना और 'अमरीकी जीवन-विधि' की आलोचना करना ही उसके श्रेष्ठ कलाकार होने का प्रमाण है।

लेकिन पूंजीवादी और कम्यूनिस्ट-विरोधी आलोचकों को एकदम ज्ञान हो गया कि सार्त्र श्रेष्ठ लेखक की अपेक्षा एक 'भ्रम' है—सार्त्र निम्न कोटि का गैर-जिम्मेदार अवसरवादी लेखक है। उसकी जिन कृतियों की 'मास्टरपीस' के रूप में सराहना की जाती थी, वे भी अपकृष्ट दिखाई देने लगीं। बात यदि यहीं पर समाप्त हो जाती तो यह ईमानदारी की कमी कह कर नजर-अंदाज कर दी जाती। लेकिन बात इससे भी आगे बढ़ गई है। सार्त्र का कम्यूनिस्टों से मेलजोल भी विवाद का विषय बन गया। और उसके मित्रगण भी इस सम्बन्ध में अपराधी ठहराये गये। और उसके लेखक साथियों को भी निम्न कोटि का लेखक घोषित कर दिया गया जब कि कभी उन्हें श्रेष्ठ पदवी प्राप्त थी।

अंग्रेजी समाचार पत्र 'टाइम्स' के साहित्यिक परिशिष्ट ४ नवम्बर, १९५५ के अंक ने इस पर विचार प्रकट करते हुए लिखा

> "इस घटना ने एक बार फिर स्पष्ट कर दिया है कि सार्त्र के सृजनात्मक कार्यों का एक एक कर के निरीक्षण करना चाहिये। इसकी बडी आवश्यकता महसूस की जा रही है कि इन कार्यों के लिए बाकायदा और 'एकेडेमिक' विकास का अध्ययन उनके विभिन्न

क्योंकि वे साहित्य और राजनीति दोनों से पलायन चाहते हैं।

महान लेखक 'शीतयुद्ध' के समर्थक आलोचकों की तरह नित्यप्रति की बदलती हुई नीति, सरकारी पद, समाचार-पत्रों और सिक्कों का दास नहीं होता इसलिए जब यह प्रश्न उठता है कि साहित्यकार का उत्तरदायित्व क्या है तो हम यही कहेंगे—उत्कृष्ट साहित्य का सृजन। इस उत्तरदायित्व से पलायन ही उसकी महानता को छीन सकता है और इसे निभाना ही उसकी महानता है। निम्न कोटि के आलोचक तो इस 'शीतयुद्ध' को हवा देते ही रहेंगे क्योंकि उनके जीवन का आधार ही यही शीतयुद्ध है। △

पूंजीवाद, प्रजातन्त्र और प्रच्छन्न प्रहार

> "ओ स्वतन्त्रता कितने अपराध तेरे नाम पर किये गये हैं"
> "अमरीका" अब क्या होगा तुम्हारा अमरीका तुम अपने कपड़े उतार कर अपने को देख सकोगे अमरीका कब तक तुम्हारी मानव ध्वंस की क्रीडा जारी रहेगी तुमने मुझे ऐसा बनाया। अमरीका " मैं तुम्हें सम्बोधित करके कहता हूँ, मुझे तुम्हारा यह चेहरा पसन्द नहीं आह कितना घृणापूर्ण चेहरा "
>
> —ऐलन गिन्सबर्ग

स्वतन्त्रता का हनन अमरीका में भी हुआ है। किसी भी शान्तिप्रिय और निष्पक्ष साहित्यकार या वैज्ञानिक को दमन का शिकार बनने के लिए उसे अन-अमरीकी कमेटी की यातना और आत्मपीड़ा सहन करनी पड़ती है। फेडरल ब्यूरो ऑफ इनवेस्टीगेशन अन-अमरीकन कमेटी, जेनर कमेटी और इसी प्रकार की दूसरी संस्थाओं ने चिन्तन स्वातन्त्र्य पर प्रतिबन्ध लगाने के ऐसे-ऐसे नये तरीके और कानून बनाए कि ईमानदार साहित्यकारों को रूस और जर्मनी की तरह अमरीका को भी छोड़ना पड़ा है। एक समय था जब अमरीका स्वतन्त्रता का प्रतीक था जिसके सम्बन्ध में लिंकन ने कहा था कि ईश्वर की छाया में इस राष्ट्र में स्वतन्त्रता का नया जन्म होगा। मैकार्थी लिंकन के इस कथन को भी भूल गया था कि जो लोग दूसरों की स्वतन्त्रता छीनते हैं, वे स्वयम् स्वतन्त्रता को कायम नहीं रख सकते।

मैकार्थीज्म की 'विच्हण्ट' का शिकार अमरीका के सुप्रसिद्ध साहित्यकारों और वैज्ञानिकों को होना पड़ा। अन अमरीकन कमेटी की विधि सम्पूर्ण रूप से

फासिस्ट है। सरकारी गुप्तचर इस कमेटी के सामने किसी को भी कम्यूनिस्ट कह देते हैं और सरकारी गवाहों की साक्षी पर इसे स्वीकार कर लिया जाता है कि कोई व्यक्ति जासूस, आतंकवादी या कम्यूनिस्ट है। यदि वह इस अभियोग से इन्कार करता है तो उस पर झूठी शपथ लेने का अभियोग लगाया जाता है और यदि अमरीकी संविधान के पाँचवें संशोधन के बल पर वह उत्तर देने से इन्कार करता है तो उसे अपमान के अभियोग में दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार अमरीका में 'रूल ऑफ लॉ' और न्यायालयों के प्रभुत्व एवम् स्वतन्त्रता को धीरे-धीरे खत्म करने का प्रयत्न किया गया। निक्सन के शासन काल में यह प्रश्न और भी उग्र रूप धारण कर गया। अमरीका में कितने लोगों को दमन का निशाना बनाया गया है, इसकी सूची बहुत लम्बी है। नोबेल पुरस्कार विजेता डॉ लुई पालिंग और आइन्सटीन को गवाही के लिए बुलाया गया। आइन्सटीन ने न केवल स्वयं इस अपमानजनक व्यवहार को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया बल्कि दूसरे व्यक्तियों को भी प्रोटेस्ट करने के लिए प्रोत्साहन दिया। डॉ ओपनहीमर, डॉ ओवन लेटीमोर, डॉ कार्ल लुईसील स्टाक अर्ल ब्राउडर यहाँ तक कि भूतपूर्व राष्ट्रपति ट्रूमेन को भी कमेटी के सामने प्रस्तुत होने के लिए आदेश दिया गया। रोजेनबर्ग दम्पत्ति को मौत के घाट उतारा गया। हावर्ड फास्ट और पॉल राब्सन के जीविका के साधन छीन लिये गए। आर्थर मिलर को दण्ड दिया गया। रेमाण्ड केपलेन, डॉ विलियम शेरवुड और कनाडा के राजदूत नार्मन ने भी इसी कारण आत्महत्या कर ली। जब चार्ली चेप्लिन ने अमरीका छोड़ा तो उसने कहा था कि अमरीका एक कारागार है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति बन्दी है। लेकिन अमरीका में विद्रोह और असहमति की शक्तियाँ बल पकड़ रही हैं। ये शक्तियाँ वियतनाम युद्ध के विरुद्ध प्रोटेस्ट के रूप में अधिक लोकप्रिय हुई हैं। वाटरगेट काण्ड से इन शक्तियों को अधिक बल मिला है।

झंडा अभिवादन से सम्बन्धित जब एक मुकदमा १९४३ में सर्वोच्च न्यायालय में आया तब न्यायालय ने स्वयं उसे पलट दिया। न्यायमूर्ति रॉबर्ट एच जैक्सन ने बहुमत से जो फैसला दिया, वह नागरिक स्वतन्त्रता तथा मत भिन्नता की एक उज्ज्वल मिसाल है। "कोई भी व्यक्ति किसी प्रतीक का मनचाहा अर्थ लगाता है तथा एक व्यक्ति जिस बात में सुविधा तथा प्रेरणा अनुभव करता है, वही दूसरे व्यक्ति के लिए उपहास तथा घृणा का कारण बनती है।

"लोग जो विभिन्न मतावलम्बियों को बलपूर्वक दबाते हैं शीघ्र, ही उनका समूल नाश हो जाता है। विचारो का अनिवार्य एकीकरण श्मशान भूमि जैसी एक रचना ही ला सकता है...।

"यदि हमारे साविधानिक तारा समूह मे कोई अटल तारा है तो वह यह है कि कोई भी उच्च या निम्न अधिकारी कोई कट्टर राजनैतिक, राष्ट्रीय या धार्मिक विचारो से सम्बन्धित अन्य विषयो को किसी पर थोप नहीं सकेगा (या पाठ्यक्रम का विषय नहीं बना सकेगा) और न ही वे नागरिको को उन विचारो या विषयो मे विश्वास रखने के लिए बाध्य कर सकेंगे। यदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आ भी जाएँ जहाँ ऐसा करना आवश्यक हो, तो वे अभी हमारे सामने नहीं हैं।

"यदि सैनिक शक्ति तोप, बम टैंक, आदि की शक्ति होती है तो जनता को यही शक्ति प्राप्त कर लेनी चाहिये क्योंकि लोगा के पास अपनी कोई भूमि, पैसा, आदि नही है। उनके पास तोपो की शक्ति प्राप्त करने, अमरीका पर पूजीपतियो के दमघोटू तथा परान्नभोजी आधिपत्य को समाप्त करने के लिए तथा एक ऐसी विकेन्द्रित सरकार की स्थापना करने के अलावा, जो वास्तव मे जनता के लिए तथा जनता की बनाई हुई हो, और कोई चारा नही है। एक सच्ची जनतान्त्रिक सरकार में उत्पादन के साधन जनता द्वारा नियन्त्रित होते हैं तथा यह समाजवादी होती है। आज अमरीका मे जो शोषण है, अत्याचार है, दमन है, फासिज्म है, उसे रोकने के लिए लोगा को सैनिक शक्ति का अधिग्रहण करना होगा तथा दमनकारी को उखाड़ फेंकना होगा।

'हम क्रान्तिकारी है, समाज-सुधारक नही। हम वर्तमान व्यवस्था से डर नही रहे। अपितु उसे नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं ताकि वित्तीय तथा व्यापारिक मूल्यो की बजाय मानवीय मूल्यो पर एक न्यायप्रिय समाज का निर्माण किया जा सके। इससे पहले कि लोग वर्तमान अमरीका के बारे म अपनी धारणा के बारे मे सुनें या पुनर्विचार करें, एक प्रकार का वास्तविक सघर्ष आवश्यक है। हमारा प्रयास है कि प्रत्यक्ष रूप से सैनिक शक्ति के रूप म पूजीवाद, वर्गभेद तथा शोषण पर आक्रमण किया जाय।" मार्ले निबार्ल और टाम सोलम्सन।

साहित्यकार की स्वतन्त्रता का दमन करने और उसे दानवी यातना का शिकार बनाने की यह ट्रैजिक कहानी है। इस लेख का उद्देश्य तो केवल

इतना है कि हम अपने राजनीतिक सिद्धान्तो के कारण एक देश मे स्वतन्त्रता के दमन को न्यायसगत और दूसरे देश मे अमानुषिक कहने की गलती करके अपनी स्वतन्त्रता को नष्ट न करें। सर्वसत्तावाद और प्रजातन्त्र-दोनो स्वतन्त्रता के विरोधी सिद्ध हुए हैं। वे साहित्यकार से उसकी अन्तरात्मा और दृष्टि छीन कर, उसे जीविका का लालच देकर राज्य का क्रिया-साधन बनाना चाहते हैं। साहित्यकार राज्य, राजनीतिक दल जनमत, ख्याति और धन का दास नही होता। जिस प्रकार साहित्य-रचना का कार्य स्वयम् साहित्यकार को ही करना पडता है, राज्य को नही, उसी प्रकार अपनी स्वतन्त्रता की सुरक्षा स्वयम् साहित्यकार को ही करनी पडेगी। यह तभी सम्भव है जब साहित्यकार स्वतन्त्रता को कैथॉलिक समझकर इसे सर्वव्यापक बना दें। साहित्यकार के लिए स्वतंत्रता ही जीवन है। स्वतन्त्रता या मृत्यु के अतिरिक्त उसके लिए तीसरी कोई राह नही।

यहाँ आर्नाल्ड टायनबी के विचार विशेष रूप से विचारणीय हैं। उन्होने लिखा है

अपनी स्वतन्त्रता के लिए लडने की समस्त धारणा निरर्थक हो चुकी है। अब तुम किसी के लिए नही लड सकते सिवाय सर्व ध्वस और परस्पर विनाश के। अब प्रश्न यह है कि तुम चार सौ वर्ष तक मानव जाति का विनाश पसन्द करोगे या चार हजार वर्ष का साम्यवादी शासन। मेरे विचार मे अब सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हमारी पीढी के वशज हो, कि मानव जाति जीवित रहे। मनुष्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि यदि उसे सन्तानोत्पत्ति के क्रम से जारी रहने का अवसर प्राप्त रहे तो वह मानव सस्थाओ के बाद भी जिन्दा रह सकता है। यदि तुम मानव जाति को ही नष्ट कर दो तो वह इतना ही अन्तिम है जितना कि किसी व्यक्ति की मृत्यु। तुम उसको फिर जीवित नही कर सकते। मेरा विचार है कि मूल्यो के प्रतिमान मे बडे क्रान्तिकारी परिवतन आय हैं।

'नात्सीवाद और साम्यवाद एक नही। नात्सीवाद मे सब कुछ भिन्न है। नात्सीवाद एक सकीर्ण धारणा है। वह पूर्णतया जर्मनी के लिए है। अपने राष्ट्र के लिए, दूसरो पर प्रभुत्व के लिए। जबकि साम्यवाद, कम से कम सिद्धान्त मे, समस्त मानव जाति के लिए है और विशेषकर शोषित बहुजन-सख्या के लिए है। साम्यवाद म नात्सीवाद से कही अधिक उदारता है। मार्क्स म सच्चा नैतिक रोष था। और मार्क्स के समय पश्चिमी देशो का

कोई भी न्यायप्रिय आदमी उस बरताव पर क्रोध प्रकट किए बिना नहीं रह सकता था जो उन्नीसवीं शताब्दी के श्रमिक वर्ग से किया जाता था।"

टायनबी इस विचार से सहमत है कि नात्सीवाद बुरा था और वह अधिक बुरा हो गया जबकि साम्यवाद अच्छा था जो बुरा हो गया। नात्सीवाद यूरोप के रोमांटिक आन्दोलन की भ्रष्टता है जबकि साम्यवाद 'एनलाइटनमेण्ट' की। दोनों की सम्पूर्ण पृष्ठभूमि बिल्कुल भिन्न है। नात्सीवाद बुद्धि विरोधी प्रवृत्ति का प्रशसक है।

उन्होंने कहा 'नात्सीवाद के विरुद्ध होने का एक कारण यह भी है कि हम जर्मन लोगो से गहरे तौर पर सम्बद्ध हैं। वे और हम एक ही पाश्चात्य ईसाई ससार के भागी हैं। इसलिये जो भी जर्मन करते हैं, वह हम भी कर सकते हैं। इसलिए हम नैतिक तौर पर अरक्षित महसूस करते हैं। रूसी हमारे पश्चिमी ससार का भाग नहीं। इसलिये वे जो भी करते हैं, उसका सम्बन्ध हमसे नहीं।

"रूस और अमरीका भविष्य मे एक ही लहर हैं। मैं यह महसूस करता हूँ कि पश्चिमी समाज और साम्यवादी समाज (विशेषकर अमरीकी और रूसी) एक समान होते जा रहे हैं। दोनों भौतिक विकास और तकनीकी उपलब्धियो पर बल देते हैं। वास्तव में वे अपने बुरे पक्षों में एक दूसरे के निकटतर हो रहे हैं। अमरीका यूरोप की अपेक्षा व्यक्ति के प्रति अधिक अनुदार है। मैं कह सकता हूँ कि यदि तुम डीन ऑफ केन्टूबरी या बर्ट्रेण्ड रसेल हो तो यहाँ की अपेक्षा अमरीका मे तुम्हारा निर्वाह अधिक कठिन हो जाएगा। रूस में तुम्हे नौकरी तक नहीं मिलेगी और जीवन हर तरह कठिनाईपूर्ण होगा। मैं ऐसे उदार समाज की अपेक्षा करता हूँ जहाँ तुम उन लोगो के साथ भी रह सकते हो जिन्हे तुम पसन्द नहीं करते।

"अमरीकी लोगो की राजनीतिक प्रतिक्रिया बहुत धीमी होती है, लेकिन अन्त मे प्राय उनकी प्रतिक्रिया सही होती है। उन्हे मेकार्थीवाद से निबटने मे बडा समय लगा लेकिन अन्त मे उसे उन्होने खत्म कर ही दिया। तुम यह आशा कर सकते हो कि अन्त मे अमरीका मे उदार प्रतिक्रिया सफल होगी। लेकिन रूस के बारे मे यह बात नहीं कही जा सकती। ... रूस मे अतिबद्धता की स्थिति अमरीका से अधिक खराब है। तुम अमरीका मे अब भी सनकी हो सकते हो लेकिन रूस मे नहीं। कम से कम उस विषय में भी नहीं, जिसे रूसी सार्वजनिक महत्व का समझते हैं।

'यहाँ (पश्चिम) अभी स्वतन्त्रता है और मैं इसका अभ्यस्त हो चुका हूँ। मेरी जड़ें यहाँ हैं। मैं इसमे पला हूँ। इसके विपरीत यह भी विचार है कि साम्यवाद 'भविष्य की लहर' है। यह अधिक सम्भव नही है कि इन दो जीवन विधियो मे कोई समझौते की 'लहर' बनने जा रही है।''

उन्होंने लिखा है कि पूर्व पश्चिम का अनुकरण न करे। तुम यह सोचोगे कि पश्चिम से स्वतन्त्रता के बाद स्वाधीन देश पश्चिम विरोधी हो जायेंगे और वे अपनी प्राचीन स्वदेशी संस्कृति की ओर लौटेंगे। लेकिन उन्होंने वास्तव मे पश्चिमी देशों की सभ्यता को स्वतन्त्रता के बाद और गहरे तौर पर स्वीकार कर लिया है। मैंने जापान मे देखा कि स्त्रियो की एक दुकान म मोम की सभी प्रतिमाओ के चेहरे अमरीकी हैं। मैंने उनसे पूछा कि आप इन्हे जापानी स्त्रियो का रूप क्यो नही देते। उत्तर मिला कि इससे इनकी प्रतिष्ठा कम हो जाती है और इनका विक्रय-मूल्य कम हो जाता है। यह स्थिति आश्चर्यजनक ही नही, करुणाजनक भी है।

''अणु युग मे रचनाकार को अपनी स्वतन्त्रता के लिए लडना पडेगा। अपने जीवन को खतरे मे डालकर भी। उसे केवल अपने लिए विजय प्राप्त करने के लिए नही अपितु असख्य अर्ध-अनुकूलित लोगो को प्रेरणा प्रदान करने के लिए भी यह सघर्ष करना पडेगा।''

युद्ध और विनाश के विरुद्ध शान्ति और स्वतन्त्रता की यह सघर्षमयी आवाज एक इतिहासकार की नही अपितु हर रचनाकार की प्रतीत होती है।

△

लोकराज्य और भविष्य की लहर

स्वतन्त्रता का बोध राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक क्षेत्रो तक ही सीमित नही। अन्यथा एक स्वाधीन समाजवादी लोकराज्य मे उत्कृष्ट साहित्य की रचना मे कोई बाधा नही होनी चाहिए सिवाय साहित्यकार की प्रतिभा की सीमा के। परन्तु क्या ऐसे राज्य के अन्तर्गत ही उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियो का सृजन होता है जिसमे साहित्यकार को इस प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है ? क्या अधिनायकवादी शासन मे श्रेष्ठ साहित्य की रचना असम्भव है ? साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जनवादी समाज मे भी निम्न स्तर के साहित्य की रचना हुई है और एकतन्त्रवाद के अधीन भी उच्चकोटि का साहित्य लिखा गया है। इसलिए सृजन के क्षेत्र म स्वतन्त्रता का अर्थ राजनीति-शास्त्र म परिभाषित अर्थ से भिन्न है। इसीलिए जहाँ हम लोकतन्त्र को इसकी समस्त त्रुटियो के बावजूद हर प्रकार के अधिनायकवाद और सर्वसत्तावाद से बेहतर राजनीतिक व्यवस्था स्वीकार करते हैं, वहाँ साहित्यकार की उन समस्याओ पर विचारकरना भी आवश्यक समझते हैं, जिनके कारण प्रजातन्त्र मे भी वह अपनी सृजनात्मक स्वतन्त्रता को प्रतिबाधित समझता है।

लोकराज्य मे सृजन की स्वतन्त्रता स्वत परिपूर्ण नहीं हो जाती। साहित्यकार के लिए स्वतन्त्रता एक अमूर्त (एब्स्ट्रैक्ट) मात्र है जिसकी अनुभूति केवल बाह्य जगत् की परिस्थितियो मे पूर्ण नही होती, बल्कि अन्तर्जगत् की उन्मुक्त सृजनात्मक प्रक्रिया मे सम्पन्न होती है। लोकतन्त्र और सृजन की स्वतन्त्रता पर्यायवाची शब्द नही हैं। साहित्यकार अपने स्वभाव से व्यक्तिवादी, अन्तर्मुखी और आत्म-केन्द्रित होता है। उसकी सृजन-शक्ति को प्रेरित करने के लिए वे परिस्थितिया और प्रक्रियाए अधिक अनुकूल हैं जिनमे उसकी

स्वाभाविक विलक्षणता के कारण वह अराजकताप्रिय होता है। इसका यह अभिप्राय नही कि वह किसी प्रकार की सामाजिक व्यवस्था या सीमा को स्वीकार नही करता, बल्कि यह कि जहाँ तक उसकी सृजन-शक्ति के सक्रिय होने का प्रश्न है, वह किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नही करता। समाज, सभ्यता, कानून, राज्य, रीति, जनमत और लोकप्रियता से स्वतन्त्र होकर ही उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा सम्पन्न होती है, नागरिक के रूप मे वह भले ही विधि-विधान का पालन करने वाला हो। लेकिन साहित्य के क्षेत्र मे इनके आधिपत्य को वह स्वीकार नही करता। साहित्यकार को भी दूसरे व्यक्तियो के साथ किसी-न-किसी सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था मे नागरिक और साहित्यकार-दोनो के रूप मे रहना पडता है। वह ऐसे समाज का समर्थन करेगा जो मानवीय मूल्यो और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता पर आधारित हो। जिसमे नागरिको को चिन्तन-मनन और प्रसारण-प्रकाशन की अधिक-से-अधिक स्वतन्त्रता हो। स्पष्ट है कि ऐसी स्वतन्त्रता केवल प्रजातन्त्र मे ही सम्भव है। लेकिन प्रजातन्त्र की स्थापना से साहित्य-सृजन की समस्याए स्वय ही हल नही हो जाती।

इसी कारण यह प्रश्न बडा महत्वपूर्ण है कि साहित्यकार और राज्य का क्या सम्बन्ध है। यहाँ राज्य से तात्पर्य लोकराज्य ही है। साहित्यकार दो स्तरों पर जीवित रहता है— स्रष्टा और नागरिक के स्तरो पर।

साहित्यकार और राज्य मे मूल्यो का मूलभूत अन्तर है। राज्य का अन्तिम अस्त्र बल है। प्रजातन्त्र का यह दावा है कि बल का प्रयोग करने मे, उसे जनमत की अनुमति प्राप्त है इसलिए यह निन्दित नही। कानून का आधार जनमत (अन्तत बल) हो सकता है, साहित्यिक रुचि का नही। साहित्य कानून से आगे चलता है। कानून अपने समय की चेतना तक सीमित होता है जब कि महान् साहित्य देश-कालातीत होता है, इसलिए वह अपने समय के आगे की चेतना का बोध कराता है। राज्य और कानून बाह्य-जगत् की चीजे है और साहित्य-सृजन आन्तरिक जगत की। इसलिए साहित्य के क्षेत्र मे राज्य का हस्तक्षेप साहित्य के लिए हितकर नही। साहित्यिक मूल्यो का अकन न्यायालय, कानून, बहुमत या आलोचको की समिति द्वारा नही हो सकता। जब तक मूल्यो के इस भेद को नही समझा जाता, तब तक साहित्य का लोकतन्त्र मे उचित स्थान निश्चित नही किया जा सकता।

ऐसे विचारो का सबसे अधिक प्रभावकारी वक्तव्य हेनरी थोरियो ने अपने लेख 'सिविल डिसओबिडिएन्स' मे दिया था

"जब एक बार जनता के हाथ मे सत्ता आ जाती है, बहुमत का शासन होता है-इसलिये नहीं कि वे ही सब से अधिक ठीक कार्य कर सकते हैं, या वे अल्पमत के साथ न्याय ही करेंगे बल्कि इसलिये कि वे भौतिक रूप से सर्वाधिक शक्तिशाली हैं। किन्तु जहाँ तक मनुष्य समझता है, बहुमत की सरकार हमेशा न्यायपूर्ण नहीं हो सकती। क्या कोई ऐसी सरकार नहीं हो सकती जहाँ उचित अनुचित का निर्णय बहुमत से नहीं, विवेक द्वारा हो ? जिस सरकार मे बहुमत केवल प्रश्नों का ही निर्णय करे जो तुरन्त निपटाने के लिए आवश्यक हों ? क्या नागरिकों को विधायिका के सामने अपने विवेक या अन्तरात्मा को दबा देना चाहिए ? यदि हाँ, तो प्रत्येक व्यक्ति मे विवेक किसलिए है ? मै समझता हूँ, हम मानव पहले हैं, बाद मे शासित। यह ठीक नहीं है कि हम विधि का भी उतना ही सम्मान करें जितना औचित्य का। मैं केवल वही करने के लिए बाध्य हूँ जिसे मैं ठीक समझता हूँ।"

लोकतन्त्र में भी प्रगति और सुरक्षा के नाम पर साहित्यकारो को प्रयुक्त करने की दुर्बलता विद्यमान रहती है। और सरकारी सरक्षण के पात्र भी ऐसे साहित्यकार ही होते हैं जो अधिष्ठान का अग बन चुके है या उसका समर्थन करते हैं। इससे साहित्यिक अभिरुचि की विविधता नष्ट हो जाती है और इसके बिना साहित्य की प्रगति का प्रश्न ही नही उठता। सितम तो यह हुआ कि 'साहित्य के विकास' और 'साहित्यकारो की दुर्दशा' को दूर करने के लिए सरकारी सहायता की माग साहित्यकारो द्वारा की जाती है। वे भूल जाते हैं कि एक सीमा के पश्चात् यह सरक्षण हस्तक्षेप का रूप धारण कर लेता है और एक बार साहित्यकार को अधिष्ठान के मोह-पाश म फँसा कर उसकी ईमानदारी और प्रतिभा को कुण्ठित करना कोई कठिन कार्य नही है।

प्रजातन्त्र मे साहित्यकार की स्वतन्त्रता को प्रत्यक्ष रूप से नष्ट करना सम्भव नहीं। परन्तु दूसरे साधन उपस्थित रहते हैं जिनम सरकारी सरक्षण भी एक है। ऐसे सरक्षण मे राजनीतिज्ञो का बडा हाथ रहता है। यही कारण है कि भारत मे भी कला और साहित्य सम्बन्धी सम्मेलनो का उद्घाटन राजनीतिज्ञो द्वारा करवाया जाता है जो कला-प्रेमी और रसज्ञ नही होते, अपितु राजनैतिक उपदेश देकर चले जाते हैं। इसीलिए डेविड गेरिक ने कहा है कि स्वाधीन लोग यदि भ्रष्ट हो जाए तो वे नीचतम दास होते हैं। सार्वजनिक प्रसारण माध्यम, यात्रिक-सत्ता, गुप्त एव परोक्ष अभिप्रेक्षण, राजनीति का प्रभुत्व, सस्थागत व्यक्ति आदि ने लोकतन्त्र मे साहित्यकार की स्वतन्त्रता पर प्रत्यक्ष, लेकिन सशक्त प्रभाव डाला है। △

आपातकाल : भारतीय बुद्धिजीवी की भूमिका

हमारे मन मे कोई भय न हो
और रस्म हो सिर उठा के चलने की
जहाँ ज्ञान और चिन्तन स्वतन्त्र हो
और शब्द फूटते हो
सत्यता की गहराई से
जहाँ बुद्धि विकसित होती हो
ज्ञान और कर्म से प्रतिक्षण बढते हुए ससार मे
स्वतन्त्रता के उस स्वर्ग मे
मेरा देश जागृत हो

आपातकाल मे रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यह कविता सेन्सरशिप का शिकार हो गई। इसकी एक एक पक्ति कितनी खतरनाक थी

'आतक के वातावरण म कोई कहे हमारे मन मे कोई भय न हो।' जिस देश म रस्म चली हो कि कोई सिर उठा के न चले वहाँ कोई कहे और रस्म हो सिर उठा के चलने की।

जहाँ लेखनी छीन ली गई हो, वहाँ कोई आवाज बुलन्द करे "जहाँ ज्ञान और चिन्तन स्वतन्त्र हो' जहाँ समस्त सरकारी प्रमारण माध्यम और समाचार पत्र महज झूठ का प्रमारण करते हो, वहाँ य शब्द कितने घातक है

'और शब्द फूटते हो—सत्यता की गहराई से ।" जहां ज्ञान और कर्म की दुनिया सिमट कर किसी अधिनायक के दमन और संकेत तक सीमित हो गई हो, वहां कोई कह दे "ज्ञान और कर्म से प्रतिक्षण बढ़ते हुए संसार में ।" और जहां स्वतन्त्रता का स्वर्ग तो नहीं, कारागारों में परोत्पीड़कों का रचा नर्क हो और समस्त देश एक विशाल कारागार बना दिया गया हो, उसमें टैगोर की आवाज , "स्वतन्त्रता के उस स्वर्ग में मेरा देश जागृत हो" को दबा देने में ही तानाशाही सुरक्षित है ।

रात के सन्नाटे में, श्मशान भूमि की नीरवता में रवीन्द्रनाथ टैगोर स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी, पंडित नेहरू और स्वयं तानाशाह के अपने पिछले भाषणों पर भी सेंसर की कैंची चल गई ।

कुछ लेखकों ने इस 'अनुशासन पर्व' का स्वागत किया । कुछ ने विरोध किया और अधिकतर मौन हो गये । लेकिन कुछ लेखक निरन्तर लिखते रहे । ये रचनाएँ आपातकाल के बाद ही प्रकाश में आईं ।

ऐसे भी लेखक हैं जिन्होंने खुले तौर पर प्रजातन्त्र के हनन का स्वागत किया है इसका उदाहरण एक पुस्तक "डिसीप्लिन इन डेमोक्रेसी एण्ड सोशलिज़्म" है जिसमें कमलेश्वर, कृष्णचन्दर और ख्वाजा अहमद अब्बास जैसे प्रसिद्ध लेखकों ने व्यक्तिगत रूप से तानाशाह का गुणगान किया था । इसमें कृष्णचन्दर की ये पंक्तियाँ हमेशा याद रहेंगी

"इन्दिराजी की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि उन्होंने इस स्थिति (फासिस्टों की साजिश) का बहादुरी से सामना किया । प्रजातन्त्र से समाजवाद की ओर कदम बढ़ाने के लिए अपने बीस सूत्री कार्यक्रम को लागू करने की पहल की ।" कृष्णचन्दर 'मानवतावादी' हैं, स्वतन्त्रताप्रिय जिन्होंने कभी लिखा था कि मुझे बन्दूक की गोली बना दो और मुझे वहाँ भेज दो जहाँ मनुष्य मनुष्य पर अत्याचार कर रहा है । लेकिन बहादुरी की कल्पना को देखिये कि हजारों निहत्थे लोगों को रात के अन्धेरे में हथियारबन्द पुलिस उनके घरों में घुसकर गिरफ्तार कर लेती है । ये लोग मानसिक तौर पर भी गुलाम हैं, चाहे वे 'आजादी' के नाम पर कितना ही साहित्य क्यों न लिखें । अब्बास साहब ने तो एक सांस्कृतिक नीति की भी सिफारिश की है जो "हमारी प्रधानमन्त्री इन्दिराजी की योजनाओं के अनुकूल हो ।" यही विचारधारा आपातकाल में दूसरे लेखकों-अलेखकों की रही जो अपने को प्रगतिशील एवं फासिस्ट-विरोधी कहते थे । उन्होंने खुले तौर पर लेखकीय स्वतन्त्रता

का विरोध किया और तानाशाही का समर्थन और वे साहित्य को सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के अस्त्र के रूप मे प्रस्तुत करने लगे। प्रगतिशील लेखक संघ तो शुरू से ही सी. पी. आई. की फ्रण्ट संस्था के रूप मे काम कर रहा था। काँग्रेस की अभियान समिति ने राष्ट्रीय लेखक मंच का गठन किया—इस मोड़ मे एक और गिरोह भी आ शामिल हुआ जो 'समान्तर साहित्य की रचना का दावा करता था। और इन लेखको ने माँग की कि आपातस्थिति म कोई ढिलाई न बरती जाए।

१ स ३ दिसम्बर १९७५ तक राजगृह म हुए समान्तर लेखक सम्मेलन म पारित किये गये कुछ प्रस्तावा के अश इस प्रकार थे

> पहले प्रस्ताव मे अन्तर्राष्ट्रीय फासिस्ट विरोधी सम्मेलन का हार्दिक स्वागत और समर्थन करते हुए कहा गया कि हम समान्तर लेखक फासिस्टवाद के खूनी और घिनौने रूप को भली भांति पहचानते हैं।
>
> दूसरे प्रस्ताव मे भूतपूर्व प्रधानमत्री के २०-सूत्री कार्यक्रम का पूर्ण समर्थन करते हुए उसे सही दिशा की ओर बढ़ने का एक कदम माना गया। प्रस्ताव मे भूतपूर्व प्रधानमत्री की घोषणानुसार २०-सूत्री कार्यक्रम के नये कदमो की शीघ्र घोषणा की माग करते हुए कहा गया कि इन कदमो की पूरी सफलता तक आपात स्थिति मे कोई ढिलाई न बरती जाय, क्योंकि प्रतिक्रियावादी और नव-फासिस्ट शक्तियां तेजी के साथ सगठित होकर प्रतिघात करने की तैयारी मे सलग्न हैं।
>
> तीसरे प्रस्ताव द्वारा प्रतिक्रियावादी नव-फासिस्ट शक्तियो के खिलाफ सघर्ष मे प्रेस सेंसरशिप को आवश्यक अस्त्र के रूप मे इस्तेमाल करने की सरकार से माग की गई।

इस प्रकार विभिन्न नामो के मचो पर वेष बदल-बदल कर वे तमाम लेखक जमा हो गय जो एक अधिनायक की लौह मशीन का यन्त्र बनने के लिए तैयार थे और यदि स्थिति कुछ समय तक और चलती रहती तो शायद जैसा कि जर्मनी म फासिस्ट प्रचारका ने कहा था कि हम न गेटे और आईन-स्टीन की भूमि है और न बनना चाहते हैं तो हमारे ये लेखक अलेखक भी कहने लगते कि हम न टैगोर और विवेकानन्द की भूमि हैं और न बनना चाहते हैं।

जब कोई विचार धर्म बन जाता है, कोई पार्टी मठ और कोई व्यक्ति पैगम्बर और कोई नारा फरमान तो इनका सबसे पहला वार स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता की रक्षा करने वाली संस्थाओं पर होता है और शब्द अपने अर्थ बदल लेते हैं।

भारत मे आपातकाल की घोषणा के साथ जनसाधारण और बुद्धिजीवियो की स्वतन्त्रता पर प्रत्यक्ष आक्रमण तो हुआ ही, कानून और न्यायालयो के अधिकारो मे भी ऐसे संशोधन किये गये जिनके अन्तर्गत उस समय के तानाशाह ने अपने शासनकाल मे या उससे पूर्व या पश्चात् भी यदि कोई अपराध किया हो तो उस पर किसी न्यायालय मे मुकदमा नही चलाया जा सकता और न ही उसे कोई दण्ड ही दिया जा सकता है। जब कि बिना अभियोग लगाए, मुकदमा चलाए न्यायालय मे पेश कियेबगैर किसी भी नागरिक को सरकार जब तक चाहे जेल मे बन्द रख सकती है। यहाँ तक कि यदि कोई अधिकारी किसी की हत्या भी कर देता है, चाहे उसका कारण व्यक्तिगत द्वेष ही क्यो न हो तो भी जब तक आपातकाल है, वह नागरिक न्याय की माग नही कर सकता और फिर आतंक और यातना की एक लम्बी कहानी शुरू हो गई।

और जिसने भी इस नाटक मे जल्लाद, खुफिया या विदूषक की भूमिका करने से इन्कार किया, उसे प्रजातन्त्र के समर्थक लेखको ने समाज का शत्रु, तोड फोड करने वाला तत्व, देशद्रोही और विदेशी एजेण्ट या जासूस घोषित कर दिया। प्रत्येक वह विचार या व्यक्ति या संस्था जिसने इस फासिस्ट [illegible] का विरोध किया, फासिस्ट घोषित कर दिया गया।

श्रमजीवी संघो के कार्यकर्ताओ, सिने अभिनेताओ, पत्रकारो, लेखको, प्राध्यापको आदि सहस्त्रो लोगो को फासिस्ट घोषित कर दिया गया और वे जेलो मे बन्द कर दिये गये। कुछ लॉरेन्स फर्नांडीज की तरह जेल मे यातना दे देकर तोडे गये। कुछ स्नेहलता रेड्डी की अवस्था मे पहुँच गये तथा मृत्यु के मुख मे चले गये। कुछ विद्यार्थी राजू की भाँति 'लापता' हो गये। कुछ नक्सलवादियो की तरह 'पुलिस मुठभेड' मे गोली के शिकार हो गये। ये सब के सब तानाशाह की नजर मे फासिस्ट थे।

वह ऐसी स्थिति थी जब लेखक की सृजनात्मक स्वतन्त्रता का प्रश्न तानाशाही के विरुद्ध संघर्ष का एक महत्वपूर्ण अंग बन जाता है।

तानाशाही समाज की सुरक्षा और स्थायित्व के नाम पर पूर्ण रूप से शक्ति को हर झूठ, कपट और कानून से प्राप्त कर लेती है। और फिर स्वतन्त्रता और जनतंत्र की प्रत्येक अभिव्यक्ति को नष्ट कर देती है। और यह सब कुछ आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के नाम पर किया जाता है। इस पर न विवाद की अनुमति दी गई है और न यह सिद्ध किया गया है कि नागरिक स्वतन्त्रता, आर्थिक विकास और सामाजिक न्याय के विरुद्ध कैसे है ! किसी भी देश, किसी भी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था में अभी तक यह सिद्ध नहीं किया जा सका कि रोटी और आजादी की प्राप्ति एक दूसरे को नष्ट किये बगैर संभव नहीं। लेकिन इस घातक तर्क का दिन-रात प्रसारण सरकारी प्रसारण द्वारा बार बार दुहराया गया। रोटी और स्वतन्त्रता की लड़ाई एक ही लड़ाई है। फासिस्ट व्यवस्था का इतिहास साक्षी है कि जब भी साधारण जन की रोटी और रोजी पर हमला किया गया तो उसका पहला वार उसकी स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक संस्थाओं पर था और यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र तो महज बौद्धिक ऐयाशी है। जन साधारण को इसकी आवश्यकता नहीं, यह उनके लिए विलासिता है। इस आड़ में कि बगैर गरीबी दूर किये समाज की वास्तविक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं, तानाशाह ने गरीबी तो दूर की बात रही दासता का फन्दा हर किसी के गर्दन में डाल दिया। यह सही ही कहा गया है कि 'समाजवाद सुविधाओं की वह पताका है, जिसके नीचे तकनीकी तथा व्यावसायिक अर्थशास्त्री प्रश्रय पाते हैं। फासिस्ट किस्म के तानाशाह अथवा अल्पकालिक बोनापार्ट स्थायी रूप से सत्ता में रहने का प्रयास करते हैं। यह बात दिलचस्प है कि स्वतन्त्रता को दबाने वाले 'गरीबी हटाओ' के झण्डाबरदारों ने निजी सम्पत्ति के अधिकारों को कायम रखा। यदि गरीबी हटाओ के रास्ते में कोई सबसे बड़ी बाधा है तो वह निजी सम्पत्ति का अधिकार है जो समाजवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध है। उन्होंने संविधान में ऐसे संशोधन कर लिए कि जिस व्यक्ति को भी वे चाहें राष्ट्र और देशद्रोही या समाजवाद तथा समाज का शत्रु घोषित किया जा सके और तानाशाह का आत्मज 'अतिरिक्त संवैधानिक अथॉरिटी' प्राप्त करके उन लोगों को गद्दार ठहरा सकता है, जो उसको देश का नेता स्वीकार करने से इन्कार करते हैं। △

व्यावसायिकता : स्वत्व का संकट

"आपके घर में जो भी बेकार का सामान हो
सपने हों, सचाई हो, आत्मा हो, ईमान हो
मत शरमाइए
बेहिचक ले आइए
हम उसे तोल कर वाजिब मोल देंगे
आपके लिए समृद्धि का द्वार खोल देंगे

ओहो आप समझते हैं आप बहुत बड़े हैं
ईमान में, बुद्धि में, रंग में, रूप में
जनाब वहां मार्केट की सीढ़ियों पर धूप में
बड़े से बड़े बिकाऊ लोग खड़े हैं
गिरी हुई कीमतों की पर्चियां लगाये
शांति की डलिया में समर्पण सजाये
चले आ रहे हैं एक से एक समझदार
भरे बाज़ार—

—'धर्मवीर भारती'

लेखक और राज्याश्रय

ऐ तायरे लाहूती उस रिज्क से मौत अच्छी
जिस रिज्क से आती हो परवाज में कोताही
—इकबाल

साहित्यकार मनुष्य की हैसियत से कई दुर्बलताओ का शिकार हो सकता है लेकिन साहित्यकार की हैसियत मे उसके पास एक ही गुण है—दृष्टि के प्रति ईमानदारी। कल्याणकारी राज्य के अन्तर्गत साहित्यकार ने यह स्वीकार कर लिया है कि राज्याश्रय साहित्य के प्रचार एवम् प्रसार के लिए अनिवार्य है। साहित्यकार की आर्थिक अवस्था को सुधारने के लिए भी राज्य ही उत्तरदायी है। ठीक। लेकिन क्या राज्याश्रय और 'दृष्टि की ईमानदारी' का सहअस्तित्व सम्भव है? यदि हम राज्य और साहित्यकार के सम्बन्ध पर विचार करें तो इसका उत्तर नही मे है। ऐसे लोग उच्च मूल्य और मौलिक मूल्य को गडबड कर देते है। उच्च मूल्य का सम्बन्ध सृजन से है और मौलिक मूल्य का सम्बन्ध शरीर और आत्मा के रिश्ते अर्थात् रोटी, कपड़ा और मकान से है। उच्च मूल्य की प्राप्ति के बिना भी हम मौलिक मूल्य को प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन उच्च मूल्य की प्राप्ति के लिए किसी हद तक मौलिक मूल्य का उपलब्ध होना आवश्यक है, जिससे यह परिणाम निकाला जाता है कि मौलिक मूल्य अर्थात् रोटी, कला से अधिक महत्वपूर्ण है। यदि साहित्यकार केवल शरीर और आत्मा के सम्बन्ध को कायम रखना चाहता है और आत्मा की स्वतन्त्रता को नीलाम कर देता है तो रोटी कला से अधिक महत्वपूर्ण है। आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब आत्मा ही नही होगी तो आत्मा की स्वतन्त्रता अर्थहीन है। अर्थात् जीवन सृजन के लिए अनिवार्य है। ऐसे आलोचक हमारी इस बात को भूल जाते हैं कि जीवन स्वातन्त्र्य का ही नाम है, अन्यथा जीवन पशु-स्तर पर शरीर का अस्तित्व है। पशु-स्तर पर शरीर के अस्तित्व से मृत्यु हर हालत मे श्रेष्ठ है। (शरीर का मोह स्वतन्त्रता नही)

'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के अर्थात उच्च मूल्यों के बिना भी हम (साहित्यकार नही) जीवित रह सकते हैं। लेकिन रोटी के बिना न हम जीवित रह सकते हैं, और न उच्च मूल्य मे दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन ये भौतिक वस्तुए प्राप्त करने के लिए यदि दृष्टि की बलि देनी पड़े तो उच्च मूल्यो को प्राप्त नही किया जा सकता। राज्य भौतिक मूल्य के इस महत्व के कारण साहित्यकार की दृष्टि को खरीद लेना चाहता है। क्योंकि उसे ज्ञात है कि दूसरी अवस्था मे साहित्यकार को भूखा मरना पड़ेगा। इस प्रकार उच्च मूल्य और स्वतन्त्रता के नाश के बाद साहित्यकार को राज्य की पुष्टि के लिये साधन बनाया जाता है। मौलिक और उच्च मूल्यो के इसी सघर्ष के कारण पैट्रिक हेनरी ने कहा है

"मुझे स्वतन्त्रता दो या मुझे मौत दो।"

अन्यथा वह यह कह सकता था कि मुझे रोटी दो या मुझे मौत दो। मौलिक मूल्य की पूर्ति के लिए साहित्यकार दृष्टि को नीलाम किये बिना कोई दूसरा व्यवसाय भी कर सकता है।

अमीरी अथवा गरीबी सृजन की प्रेरक या बाधक नही। यह सम्पूर्ण रूप म व्यक्तिगत प्रतिभा का प्रश्न है। और हमे, यह नही भूलना चाहिए कि मौलिक मूल्य उच्च मूल्य का आधार नही, केवल एक साधन मात्र है। इसलिए उच्च मूल्य मानव की सौन्दर्यानुभूति के लिए अनिवार्य है। मनुष्य की नीति, सृजन, दर्शन और उच्च भावना का स्रोत यही उच्च मूल्य है जिनके लिए साहित्यकार भूख, बेकारी, निर्धनता और मृत्यु स्वीकार करता है, क्योंकि उच्च मूल्य के बिना मौलिक मूल्य जीवन का तत्व ग्रहण करने मे असमर्थ रहता है। इसके बिना मानव जीवन का महत्व ही समाप्त हो जाता है।

राज्याश्रय का एक खतरा और भी है कि उच्च मूल्य अर्थात् सृजन, मौलिक मूल्य को पुष्ट करने के लिए प्रयोग मे लाया जाये।

इसका यह अभिप्राय नही कि साहित्य को जीविका-साधन नही बनाया जा सकता। बल्कि यह है कि हम अपनी दृष्टि और विवेक के अनुकूल साहित्य रचना करते हैं और उसका पुरस्कार प्राप्त करने का यत्न करते है। लेकिन पुरस्कार प्राप्ति के लिए हम ऐसा साहित्य-सृजन नही करते जो हमारी दृष्टि और विवेक के प्रतिकूल है। साहित्यकार की स्वतन्त्रता का प्रश्न इसी कारण साधारण लोगो की स्वतन्त्रता के प्रश्न से अलग महत्व रखता है। साहित्यकार कारीगरी का नहीं, कला का सृजन करता है, जिसके लिए दृष्टि चाहिये।

और इस दृष्टि को किसी वस्तु के बदले में नीलाम नहीं किया जा सकता। कारीगरी एक सामूहिक क्रिया है और कला व्यक्तिगत क्रिया है। साहित्यिक अभिरुचि भी व्यक्तिगत है। व्यक्तिगत अभिरुचि में समानता नहीं होती। रुचिभेद साहित्यिक अभिरुचि के लिए अमृत है। साहित्य का विकास और उसकी उपयोगिता तभी बढ़ती है जब साहित्यिक अपने पाठकों को विविध रचनाएं प्रदान करता है। चयन की विविधता और चयन की स्वतन्त्रता का (जो साहित्यिक अभिरुचि की सन्तुष्टि के लिए आवश्यक है) आधार सृजन की स्वतन्त्रता है। कला के समीक्षकों को भी स्वतन्त्रता चाहिये ताकि व अपनी रुचि को प्रस्तुत कर सकें। सृजन के लिए स्वतन्त्रता और व्यक्तिगत रुचि दोनों आवश्यक हैं। होरेस केलन के कथनानुसार 'विविध वस्तु' 'मीडियम' और विचार का विशिष्ट प्रयोग सौन्दर्य है। इसके प्रयोग को हम अभिव्यक्ति कहते हैं, विकास इसकी वस्तु है और स्वातन्त्र्य इसकी पूर्ति।' जब हम साहित्यिक अभिरुचि के लिए विविधता अनिवार्य समझते हैं तो स्वतन्त्रता भी अनिवार्य है। क्योंकि स्वतन्त्रता के बिना विविधता सम्भव नहीं और स्वतन्त्रता के बिना सृजन-शक्ति मर जाती है। इसलिए सरकार को साहित्य की सरपरस्ती का एकाधिकार नहीं दिया जा सकता। क्योंकि एका-धिकार से विविधता खत्म हो जाती है। उत्कृष्ट साहित्य-सृजन के लिए साहित्य के सरपरस्तों में विभिन्नता आवश्यक है।

साहित्यकार की सफलता केवल संयोगवश है। उसकी कलात्मक प्रतिभा की कसौटी उसकी लोकप्रियता नहीं और किसी भी सूरत में इसे सृजन-क्रिया का उद्देश्य नहीं समझा जा सकता।

जो भी साहित्यकार अपनी दृष्टि के प्रति ईमानदार नहीं और उन विषयों के सम्बन्ध में लिखता है जिसका उसे ज्ञान नहीं, अज्ञान के कारण, या जो उसका अभिप्राय नहीं, लापरवाही के कारण या सचेतन तौर पर किसी दल की नीति प्रचार के लिए पाठकों को सन्तुष्ट करने के लिए लिखता है वह ईमानदार नहीं। यह कला की न केवल पराजय है बल्कि किसी स्वार्थ, लालसा, भय या ख्याति के लिए साहित्यिक ढोंग भी है।

साहित्य का सम्बन्ध राज्याश्रय या भौतिक सुरक्षा से कायम नहीं किया जा सकता। आर्थिक विषमताओं में भी उच्च कोटि के साहित्य का सृजन हुआ है। जब कि राज्याश्रय और भौतिक उन्नति के अन्तर्गत अपकृष्ट साहित्य लिखा गया है। साहित्यिक अभिरुचि सरकारी सरपरस्ती और भौतिक उन्नति से मुक्त होती है। जीनियस न बाह्य प्रेरणा से पैदा होता है और न उसके अभाव में मरता है। वह अपना स्रष्टा स्वयम् है। उसकी सृजन-प्रतिभा को सक्रिय करने के लिए एक ही शर्त काफी है—स्वतन्त्रता-सृजन की स्वतन्त्रता।

विचार-स्वातन्त्र्य बनाम व्यावसायिकता

आधुनिक यान्त्रिक, सामूहिक और व्यावसायिक युग मे साँस लेते हुए लखक की ट्रेजेडी यह है कि यदि वह भौतिक सुख-सुविधा को भोगना चाहता है तो उसे अपनी बौद्धिक स्वतन्त्रता और सृजन की आन्तरिक लगन को छोडना पडेगा। और अगर उसे अपनी कृति को ईमानदारी और प्रामाणिकता स प्रस्तुत करना है तो उसे व्यावसायिक-व्यवस्था पर आधारित 'मास मीडिया और उसके द्वारा प्रसारित लोकप्रिय साहित्य की रेजिमेन्टेशन' के विरुद्ध सघर्ष करना होगा। 'तुम अपनी रोटी भी सुरक्षित कर लो और तुम्हे सृजन की स्वतन्त्रता भी मिल जाये—यह नही हो सकता। तुम समाज के विरोधी आलोचक हो कर यह आशा नही कर सकते कि समाज तुम्हे रोटी भी देगा।'

(कैथरीन एन पोर्टर)

अपने आपको भी कभी न बख्शने वाली नकारात्मकता का सामना करने के बाद समाज को रक्षात्मक रुख अपनाना पडता है। पूजीवादी सस्कृति मे असख्य चालें हैं। इनके अतगत कलाकृतिया को सग्रहालया व दीवानखानो मे वद कर दिया जाता है। यह सस्कृति आधुनिक कलाविधिया विचारधारा, मूल्याकन की खिल्ली उडाती है, इसमे कलाकृतिया का क्रय-विक्रय किया जाता है, कलाकृतियो की सौन्दर्यात्मकता उनके विक्रय मूल्य स तथा उनका विक्रय मूल्य उनकी सौन्दर्यात्मकता से आका जाता है। अपनी उदारता को प्रमाणित करने के लिये प्रत्येक आक्रामक वस्तु का उपयोग किया जाता है तथा षडयन्त्र को विफल करने के लिये उसे खुला छोड दिया जाता है। यह उसे अभिजात वर्ग के लिये रखती है तथा एक विस्तृत काल्प-

निक सग्रहालय मे छोड देती है। वास्तव मे आधुनिक युग सास्कृतिक सामग्री का निर्माण भी इसी प्रकार करता है जिस प्रकार उपभोग के लिये अन्य वस्तुए निर्मित की जाती हैं। एक समीक्षक के कथनानुसार—मानवीय भावना यह घोषणा भी करती है कि वे बातें जो इसके क्षेत्र मे आती है, जिनके द्वारा यह स्वय को आवश्यकता और प्रकृति के माध्यम से प्रकट करती है, इस शासन प्रणाली मे अवमानित होती हैं। वे वस्तुए जो बडे पैमाने पर बनाई तथा बेची जाती हैं, उन्ही के समान ये भी उपभोग की उन्ही वस्तुओ से अधिक शुद्ध नही होती। ये सास्कृतिक सामग्री कहलाती है।

लेखक की सृजन शक्ति और बौद्धिक स्वतन्त्रता पर यह हमला प्रत्यक्ष नही होता। वह उसे 'हिडन परस्यूशन' और 'प्रेशर' द्वारा अतिबद्धता की रियायतें उपलब्ध करके अपने 'प्रभाव के दायरे' म शामिल कर लेता है। अभिजात समाज मे लेखक की प्रतिष्ठा बढ जाती है। (यह जरूरी नही कि वह उसकी कृतियो से परिचित हो)। लेकिन इस मान-प्रतिष्ठा, पुरस्कार, बैंक बैलेन्स और भौतिक सुविधाओ के लिए उसे अपनी जीवन-पद्धति, मूल्य चेतना, व्यवहार शैली, कार्य-विधि, विचार आदि मे परिवर्तन करना पडता है। यह परिवर्तन उसकी सृजन-शक्ति और स्वतन्त्रता के लिए घातक सिद्ध होता है। और वह व्यावसायिक व्यवस्था के महान् यन्त्र चक्र का एक पुर्जा बन जाता है। वह अपने आपको क्रान्तिकारी सिद्ध करने के लिए 'छद्म शत्रुओं' का निर्माण करता है और उन्हें अपने 'आक्रोश' का निशाना बनाकर अपनी विवेक-तुष्टि कर लेता है। लेकिन वास्तव मे वह साहित्य पर साहित्येतर मूल्यो की स्थापना कर देता है।

प्रोटेस्ट मेरे निकट साहित्य का मूल स्वर है। बाजार की माग के अनुरूप और अति-सगठन की व्यवस्था को सुदृढ बनाने के लिये जो साहित्य 'सृजन' होता है वह 'प्रोटेस्ट' नही कर सकता। साधारण बौद्धिक स्तर, सामान्य शिक्षा के प्रसार, सामाजिक और नैतिक रूढियो, धार्मिक और राजनीतिक अनुशासन, सकीर्ण वर्ग समूह और परम्परानुकूलता के विरुद्ध यदि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक बल और सृजनात्मक शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है तो वह लेखक है और यह स्वतन्त्र चिन्तन और विद्रोह के बगैर सम्भव नही। मैं यहां इकबाल का एक शेर दोहराना चाहूगा—

> "ऐ तायरे लाहूती उस रिज्क से मौत अच्छी
> जिस रिज्क से आती हो परवाज मे कोताही।"

साहित्य और व्यवसाय की माग की बडी खूबसूरत तस्वीर रास्ता ने अपने नाटक 'सीरानो' में प्रस्तुत की है। जब कवि सीरानो का मित्र उसे कहता है कि वह अपनी कृति म थोडा सा परिवर्तन कर ले तो उसकी कृति प्रदर्शित हो सकती है तो वह जो उत्तर देता है, वह कवि सीरानो की ही नही अपितु प्रत्येक विवेकशील लेखक की आवाज बन जाता है। व्यवसाय और साहित्य प्रश्न पर उनकी ये पक्तिया अपनी मिसाल नहीं रखती। और इससे अधिक कुछ कहना मुश्किल है। इन पक्तियो को अग्रेजी मे ही उद्धृत किया जा रहा है।

What would you have me do ?
Seek for the patronage of some great man, and like a creeping vine on a tall tree
Crawl Upward, where I cannot stand alone ?
No thank you ? Dedicate, as others do,
Poems to pawnbrokers ? Be a buffoon
In the vile hope of teasing out a smile
On some cold face ? No thank you Eat a toad
For breakfast every morning ? Make my knees callous, and cultivate a supple spine,—
Wear out my belly grovelling in the dust ?
No thank you ! Scratch the back of any swine
That roots up good for me ? Tickle the horns,
Of Mammon with my left hand, while my right
Too proud to know his partner s business
Takes in the fee ? No thank you ! Use the fire
God gave me to burn incense all day long
Under the nose of wood and stone ? No thank you !
Shall I go leaping into ladies' laps
And licking fingers ?—or to change the form—
Navigating with madriguls or oars,
My sails full of the signs of dowagers ?
No thank you ! Publish verses at my own
Expense ? No thank you ! Be the patron saint
Of a small group of literary souls
Who dine together every Tuesday ? No
I thank you ! Shall I labour night and day
To build a repuation on one song,

And never write another ? shall I find
True genius only among Geniuses,
Palpitate over little paragraphs,
And struggle to insinuate my name
Into the columns of the Mercury ?
No thank you ? Calculate, scheme, be afraid
Love more to make a visit than a poem,
Seen introductions, favours, influences ?
No thank you ! No I thank you and again
I thank you—But —

To sing, to laugh, to dream,
To walk in my own way and be along
Free, with an eye to see things as they are, a voice
that means manhood—to cock my hat where choose
at a word, a yes, a No,
To fight—or write To travel any road
Under the sun, under the stars, nor doubt
If fame or fortune lie beyoung the bourne—
Never to make a line I have not heard in my own
heart — — — — — — — — — — — — — Δ

लेखक :
धन और पद-प्रतिष्ठा के बन्द मीनार में

सलोन विल्सन के प्रसिद्ध उपन्यास 'ए मैन इन द ग्रे फ्लेनल सूट' के नायक राथ को एक आत्मिक संकट का सामना करना पड़ता है जो उसकी वैयक्तिक दृष्टि और प्रेरणा, आनन्द के अंत स्रोत, बौद्धिक स्वतन्त्रता विवेकशीलता और न्यायप्रियता को नष्ट कर देना चाहता है और पुरस्कार के रूप में उसके जीवन को सुख-सुविधाओं और विलास से भर देता है और अभिजात समाज में उसे मान-प्रतिष्ठा प्रदान करता है।

राथ को एक महान व्यवस्थापन में जगह मिल जाती है। उसे इस पद से काफी रकम मिलती है। राथ बुद्धिमान और साहसी व्यक्ति है। वह अपने श्रम और कौशल से व्यवस्थापन के व्यापार को उन्नति के शिखर पर ले जाता है और सचालक-मडल की तिजोरियाँ भरने मे बड़ा महत्वपूर्ण कार्य करता है। व्यवस्थापन उसकी कार्य-क्षमता से प्रसन्न हो कर उसका वेतन बढ़ा देता है और उसका पद भी ऊंचा हो जाता है। समाज में उसका सम्मान और भी बढ़ जाता है। उसका घर हर प्रकार की भौतिक सुविधाओं से भर जाता है। बैंक मे उसकी राशि दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगती है और अभिजात वर्ग में उसका स्थान सुरक्षित हो जाता है। वह समाज और व्यापारिक जगत का एक प्रतिष्ठित अनिवार्य अंग बन जाता है लेकिन पद-प्रतिष्ठा, धन-दौलत और भौतिक सुविधाओं के लिए उसे अपनी जीवन-पद्धति में परिवर्तन करना पड़ता है। उसके आदर्श, जीवन-मूल्य और सपने, उसके कार्य, पद, पैसे और सुख-सुविधा के बोझ के नीचे दब कर रह जाते है। राथ के लिए यह ऐसा सम-

होता या सौदा था जिसके परिणाम-स्वरूप परिवार में उसकी रुचि और लगन कम होने लगती है और वह घर की छोटी-छोटी खुशियों से वंचित हो जाता है। उसका पारिवारिक जीवन नष्ट हो जाता है। जिस बौद्धिक गमा गुरुपता का उसे खतरा था, वह एक ठोस सत्य बन कर उसके सम्मुख खड़ी हो जाती है। उसकी यांत्रिक व्यस्तता और सफलताएं उसके वैयक्तिक और पारिवारिक जीवन के हर पहलू पर व्याप्त हो जाती है और उसकी आत्मा में ठंडे लोहे की तरह गड़ने लगती है। वह व्यवस्थापन के महान यंत्र-तंत्र का एक पुर्जा बन जाता है।

तब राय को अनुभव होता है कि उसकी आत्मा पूरी तरह जकड़ी जा चुकी है। जीवन की आधुनिक सुविधाएं और सुख प्राप्त करने के लिए उसे जिस यत्नवत गुल्मीकरण का शिकार होना पड़ा है, वह उसमें पूर्ण रूप से फंस चुका है। वह इस *स्थिति* की चुनौती को स्वीकार कर लेता है और अपनी सफलता की चरम सीमा पर अपने पद से त्याग-पत्र दे देता है। व्यवस्थापन के अधिकारी उसे फुसलाने के लिए हर यत्न करते हैं। उसे कई प्रकार के प्रलोभन देते हैं—हालीवुड का जादुई आकर्षण, अभिजात समाज में प्रतिष्ठा, पदोन्नति, वेतन वृद्धि आदि। लेकिन राय की आत्मा विवेकशून्यता की इस स्थिति से *विद्रोह करती है।* आखिर वह अपने पद को त्याग देता है और अपनी पुरानी छोटी-सी नौकरी पर वापस आ जाता है, जिससे उसे इतना अवश्य मिल जाता है कि वह अपनी रोजमर्रा की आवश्यकताएं पूरी कर सके। लेकिन वह अपने व्यावसायिक क्षेत्र से बाहर स्वतन्त्र और सन्तुष्ट जीवन बसर करता है। परिवार की छोटी-छोटी खुशियों में भाग लेकर *आत्मिक आनन्द* और शान्ति प्राप्त करता है।

राय का जीवन-संकट केवल एक व्यक्ति का संकट नहीं, अपितु आधुनिक यांत्रिक युग और सार्वजनिक प्रसार (गुप्त एवं प्रकट) और संगठित सस्थापनों के युग में प्रत्येक प्रबुद्ध और संवेदनशील व्यक्ति का संकट है—हर उस व्यक्ति का जिसके सामने यह प्रश्न है कि क्या वह भौतिक एवं दैहिक सुख के लिए अपनी अन्तर्दृष्टि, बौद्धिक स्वतन्त्रता और *सर्जन की सत्यता* को त्यागने के लिए तैयार है? यदि वह अपने स्वप्न, आदर्श और *मूल्य* को तरजीह देता है तो वह समाज में सफलता और *सम्मान के मानदण्ड* के अनुकूल दासवृत्ति को स्वीकार नहीं करेगा। ऐसे *व्यक्ति* के लिए विद्रोह और प्रतिरोध अनिवार्य है।

संगठित व्यापारिक *व्यवस्थापन*, राजकीय संरक्षण और जनरुचि द्वारा लोकप्रियता और ख्याति-प्राप्त करने के इच्छुक साहित्यकारों के सामने भी

यही सबट की स्थिति है। वे उच्च पद पर प्रतिष्ठित होकर या जनरुचि के अनुकूल 'साहित्य-सर्जन' करके भौतिक समृद्धि और लोकप्रियता प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसी साहित्यिक रचनाओं का पारिश्रमिक बेशक अधिक मिलता है लेकिन वे साधारण स्तर से ऊपर नहीं उठ पाती। ऐसे लेखक धीरे-धीरे दासतायुक्त एकरूपता के परोक्ष या अपरोक्ष रूप से शिकार हो जाते हैं। आधुनिक युग दार्शनिक या सौंदर्यात्मक मूल्यों को तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। ऊँचे पद और बड़े धन (सफेद या काले) की इज्जत करता है। लेखक इस प्रलोभन का शिकार हो जाता है। सर्जन से विमुख होकर वह आलस्य *और साहित्यिक पुंजीत्पादन को स्वीकार कर लेता है। वह ऐसे संस्थानों की* दासता स्वीकार कर लेता है, जो बौद्धिक एकरूपता के यन्त्र हैं और सर्जनात्मक प्रेरणा के शत्रु हैं। वे साहित्य पर साहित्येतर मूल्यों का प्रभुत्व स्थापित कर देते हैं। व्यापारी और राजनीतिज्ञ कला-प्रदर्शनियों का उद्घाटन कर दें साहित्यकार को पुरस्कार प्रदान करें, तो वे अपने को धन्य समझते हैं।

सार्वजनिक प्रेस रेडियो, टेलिविजन, फिल्म और लोकप्रिय साहित्य, ये वे साधन हैं जो साहित्यकार को भ्रष्ट करते हैं और ये वही साधन हैं, जिनके द्वारा वे अपनी रचनाओं को लोक मच पर लाते हैं। लेकिन ऐसे संस्थापनों द्वारा साहित्य के प्रसार का अभिप्राय है कि वे इनकी नीति और स्तर के अनुकूल साहित्य की रचना करें। ऐसे साहित्य का क्या स्तर होगा, इससे कोई अनभिज्ञ नहीं।

लेखक जो स्वप्न देखा करता था—साहित्य से जीविकोपार्जन, पाठकों का विस्तृत क्षेत्र, तडक-भडक वाली पत्रिकाओं में प्रकाशन, समाज में प्रतिष्ठा (लेखक के नाते नहीं) राजकीय सरक्षण और पुरस्कार सब कुछ अब सम्भव है।

लोकप्रिय साहित्य के समर्थक यह बात भूल गये हैं कि जो रचनाएँ प्राय बहुमश्री प्रकाशन वाली पत्रिकाओं या जेबी पुस्तकों में प्रकाशित होती हैं, वे चाहे अभिजात साहित्य हो या आधुनिक, अपने मूल्य के महत्व या सौंदर्याभिव्यक्ति के कारण लोकप्रिय नहीं, बल्कि केवल कथा के रूप में पढ़ी जाती हैं। *पाठक ऐसे साहित्य का सक्षिप्त कथानक अपने मस्तिष्क* में तैयार कर लेते हैं और उसी सीमा तक उससे रस लेते हैं।

उनका ध्येय मनोरंजन होता है। ऐसे पाठक उत्कृष्ट और अपकृष्ट साहित्य में अन्तर करने में असमर्थ हैं। हाँ, उत्कृष्ट साहित्य प्राय उन्हें उबा

देता है। जब वे किसी अच्छी पुस्तक को पढते हैं या प्रशसा करते है तो इस-लिए कि वह प्रचलित फैशन के अनुकूल है। समाज मे भी यदि लेखक का सम्मान होता है तो इसलिए नही कि वह लेखक है, बल्कि इसलिये कि वह कोई उच्च पदाधिकारी है या उसे इनका सरक्षण प्राप्त है।

फिल्म और लोकप्रिय प्रेस ने आधुनिक युग मे जिस तेजी मे ग्रेशम के नियम को साहित्य मे प्रचलित किया है, इसकी मिसाल साहित्य के इतिहास मे मुश्किल से मिलेगी। लोकप्रिय पत्रिकाओं का सम्पादक अपनी निजी रुचि के कारण कभी-कभी अच्छी रचना प्रकाशित करने का खतरा मोल ले लेता है, क्योकि यदि पाठक वर्ग उसे पसन्द न भी करे तो दूसरी मनोरजक सामग्री के कारण उसे कोई फर्क नही पडता। और एक-आध ऐसी चीज देने से ये पत्रिकाएँ बुद्धिजीवी वर्ग मे भी पढी जाती हैं।

जेबी पुस्तको ने साहित्य की यदि कोई सेवा की है तो यह कि इनके कारण साहित्य और असाहित्य के बीच की रेखा मिटने लगी है। भाषा, शैली, शब्द-विन्यास, प्रामाणिक अनुभूति, मौलिकता, सर्जनात्मक प्रेरणा, वैयक्तिक अभिव्यजना, किसी का कुछ महत्व नही। महत्वपूर्ण यदि कुछ है तो आकर्षक, रगीन, अधिक सख्या मे छपने वाली पत्रिकाओ मे ऐसी परिचर्चा, आत्म-परिचय और वक्तव्य प्रकाशित कराना, जो चमत्कारपूर्ण तो अवश्य हैं लेकिन जिनका प्रयोजन साहित्य के प्रति रुचि को विकसित करना या समा-लोचना के क्षेत्र को विस्तृत करना नही बल्कि आत्म-प्रचारमूलक सस्ती ख्याति अर्जित करना और चौंकाना है, जैसे छोटे-छोटे बच्चे पटाखे छोडते है और खुश होते हैं। जेबी पुस्तको का इतना लाभ अवश्य हुआ कि प्रबुद्ध पाठक जो अधिक मूल्य की पुस्तकें नही खरीद सकते, अब उनकी पहुँच इन पुस्तको तक हो सकती है। लेकिन जेबी पुस्तको का अधिक विक्रय यह सिद्ध नही करता कि प्रबुद्ध पाठको की सख्या बढ गयी है।

आखिर लोकप्रिय साहित्य किस चीज का प्रसार कर सकता है। इसकी दृष्टि सदैव सतह पर होती है जो प्रत्यक्ष है, गहन नही। ऐसा साहित्य गढे-गढ़ाये विचार, साधारण सोच, औसत बुद्धि और प्रारम्भिक तथ्यो पर आधा-रित ऐसे विचारो और अनुभवो को प्रस्तुत करता है जिनसे मस्तिष्क पर बोझ न पडे। यथार्थ से पलायन, झूठी और नकली अनुभूति, दिवा-स्वप्न, निष्क्रियता, रूढिवाद, बौद्धिक दासता, विलासिता, शक्ति-पूजा चौंकाने की वृत्ति आदि पर ऐसा साहित्य अवलबित होता है। ऐसा साहित्य दार्शनिक

और नैतिक मूल्यो और कला के सौदर्य पक्ष से अलग होकर केवल मनोरजन का साधन मात्र रह जाता है।

लोक-मनोरजन के अधिकतर साधन जीवन-मूल्यो के विरोधी होते है। वे विकृत और भ्रष्ट प्रवृत्तियो को प्रोत्साहन देते है और नैतिक प्रश्नो से अलग रहने का प्रयास करते हैं। वे एक ऐसे ससार का चित्राकन करते है जिसमे भौतिक प्रगति ही उन्नति का प्रतीक स्वीकार की जाती है। समता से तात्पर्य नैतिक समता है और स्वतन्त्रता का अभिप्राय कुठाओ की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति। इनका दिल या दिमाग से कोई सम्बन्ध नही। वे धीरे-धीरे आनन्द के स्वस्थ स्रोत को शुष्क कर देते है। पढना समय बिताने का साधन मात्र रह जाता है। पढने और सिगरेट पीने म कोई अन्तर नही रहता।

लोकप्रिय लेखक जब भी समाज की विवेकशून्यता पर आक्रमण करते हैं तो वह कृत्रिम आक्रमण होता है या अपने विकारो के लिए आत्मरक्षात्मक क्रिया। अपने को क्रातिकारी सिद्ध करने के लिए वे प्रतिष्ठान पर छद्म आक्रमण करते है। वे इसको छोड नही सकते, क्योकि इसे वे अपनी ख्याति, समृद्धि और विलासिता म वृद्धि के लिए इस्तेमाल करते हैं। अधिष्ठान के अन्तगत हमशा रूढि के पालन को ही मान्यता मिलती है और परिपाटी से विद्रोह की सजा मिलती है।

साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि साहित्य-सर्जन के लिए यदि कोई शर्त अनिवार्य है, तो सर्जन के प्रति लेखक की ईमानदारी है, सर्जन की आन्तरिक लगन और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है। बाजार के अनुरूप साहित्य की रचना सजन के विधान के प्रतिकूल है। साधारण बौद्धिक स्तर, सामान्य शिक्षा का प्रचार, सामाजिक और नैतिक रूढियो, धार्मिक और राजनीतिक अनुशासन, सकीर्ण वर्ग-समूह और परम्परानुकूलता के विरुद्ध यदि कोई एक समूह आध्यात्मिक बल और सर्जनात्मक शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है तो वह लेखको का समूह है और यह स्वतन्त्र चिन्तन निरन्तर विद्रोह की भावना के बगैर सम्भव नही। लोकप्रिय प्रेस इसको प्रोत्साहन नही दे सकता। जितनी अधिक शक्ति और आस्था से लखक समानुरूपता को तोडने की कोशिश करेगा, उतना अधिक वह श्रेष्ठ और सच्चे साहित्य का सर्जन करने म समर्थ होगा।

मुझे यह कहने मे कोई सकोच नही कि सार्वजनिक प्रसार-साधनो मे इस युग मे प्राय लोकप्रिय लेखक वही होंगे और भौतिक सुख-विलास भी उन्हे

ही उपलब्ध होंगे और मान-प्रतिष्ठा और ख्याति भी उन्हे ही मिलेगी जो अधिष्ठान के नियम के अनुकूल साहित्य की रचना करेंगे। सिरिल कोनाली का यह कथन सही है कि लेखक के लिए बहुत अधिक धन जहाँ खतरनाक है, वहाँ बहुत कम धन घातक है। लेकिन कैथराइन एन पोर्टर के ये शब्द भी नही भूलने चाहिए कि तुम रोटी और क्रिया-स्वतन्त्रता, दोनो को प्राप्त नही कर सकते। तुम समाज के विरोधी आलोचक रह कर यह आशा नही कर सकते कि समाज तुम्हे रोटी भी उपलब्ध कराएगा।

लोकप्रिय साहित्य का मोह नया नही। लेकिन सामाजिक और तकनीकी क्रान्ति के कारण इसका महत्व बढ गया है। आज का लेखक किसी एक धनाढ्य पर आश्रित न होकर सार्वजनिक संस्थाओ और साधारण जनता पर आश्रित हो गया है।

जो लेखक यह समझते है कि वे उत्कृष्ट साहित्य को लोकप्रिय बना रहे है, केवल भ्रम का शिकार हैं। वास्तव मे वे पुरातन अभिजात साहित्य के अवशेषो को निम्न बौद्धिक स्तर के अनुकूल प्रेषित करते हैं और जनता की मानसिक जरूरतो के अनुकूल उसको ढाल देते हैं।

बात सलोन विलसन के उपन्यास से चली थी। उसके उपन्यास का नायक राथ किस प्रकार धन और पद-प्रतिष्ठा को त्याग कर निजी विवेक और वैयक्तिक मूल्यों को अधिमान्यता देता है। क्या हमारे साहित्यकार बंधु राथ की तरह बौद्धिक स्वतन्त्रता और आध्यात्मिक निष्ठा का सबूत देंगे और अपने सपनो और आदर्शों के अनुकूल साहित्य का सर्जन करने का साहस करेंगे या लुई मेकनीस की इन पंक्तियों की मिसाल बनकर रह जायेंगे :

> इट इज नो गो द योगीमैन, इट इज नो गो बलावेट्स्की,
> आल वी वाण्ट इज़ ए बैंक बैलेंस एण्ड ए बिट आफ स्कर्ट इन ए टैक्सी। △

व्यक्ति : संगठन के विरुद्ध सघर्ष

"हर चिड़िया के पीछे एक चिड़ीमार है
हर आँख छुपी हुई एक बरछी है
हर बात की मुश्कें कसी हुई हैं
हर एक निगाह डसी-डसी हुई है
मैं गुस्से मे दाँत पीसता हूँ तो दाँत गिर जाते हैं
वज्र मुट्ठी बाँधने लगता हूँ तो पोरों मे कोढ उभर आते हैं
मैं प्रयोग के लिए गिरफ्तार बन्दर की तरह
किच् किच् करता हूँ ।"

विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

स्वतन्त्रता : आधुनिकता का आघात

बडे-बडे उद्योग धन्धो, सामाजिक सगठनो, राजनीतिक दलो और जन प्रसारण के साधनो ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को बडी हद तक खत्म कर दिया है और अवैयक्तिक रिश्तो को जन्म दिया है। मालिक दूर की कोई रहस्य-मयी शक्ति है। मनुष्य आत्माहीन मशीन के पुर्जे से अधिक महत्व नही रखता। वह इन बडे-बडे सगठनो का गुलाम है।

सगठित सस्थाओ मे जकडे होने के कारण वह व्यक्तिगत क्रिया नही कर सकता। उसे अस्तित्व के सकट का सामना करना पड रहा है। नीत्शे के शब्दो म 'मनुष्य एक करुणाहीन राक्षस का गुलाम है'। प्रजातन्त्र केवल नाम-मात्र रह गया है और अधिनायकवाद जीवन-विधि बनता जा रहा है। राजनीति सामान्यजन म अराजकता की स्थिति पैदा कर रही है। इसके करतब लोगो की समझ से बाहर होते जा रहे हैं। स्वतन्त्रता के समर्थक भी धीरे-धीरे विज्ञान के बलबूते पर आश्रित अभिजात वर्ग के पागलपन का शिकार होते जा रहे हैं। सोरोकिन ने अपनी पुस्तक 'हमारे युग का सकट' मे लिखा है कि हिटलर, स्टालिन, मुसोलिनी ने यह सकट पैदा नही किया, बल्कि पहले से ही मौजूद सकट ने इन्हे वह बना दिया है जो वे थे, अर्थात् अपनी कठपुतलियाँ। वे हटाये जा सकते हैं लेकिन इनका नाश सकट को खत्म नहीं कर देगा और न ही इनके खतरे को कम कर देगा। जब तक सकट जारी रहेगा, यह केवल नये बडे हिटलर, स्टालिन, चर्चिल और रूजवेल्ट को पैदा करेगा। डब्लू एच ऑडेन ने कहा है कि एक खुले समाज मे जो मागें होती हैं, उनके लिए आदत बनाने मे मानव जाति की असफलता के कारण अधिक से अधिक लोग इसी

निष्कर्ष पर पहुँच रहे है कि खुला समाज सभव नही। इसलिये आर्थिक और आध्यात्मिक विनाश से बचने के लिए यही एक रास्ता है कि बन्द समाज की तरफ जितनी जल्दी हो, लौट लिया जाये। आर्नल्ड टायनवी न इसे कायरता-पूर्ण आत्मसमर्पण की सज्ञा दी है।

आज शब्द अपने अर्थ वदल चुके हैं जैसा कि जार्ज आर्वेल ने 'न्यूस्पीक' के लिए कहा है—'युद्ध शान्ति है, झूठ सत्य है, ज्ञान अज्ञान है'। मस्तिष्क और आत्मा को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक आवश्यकताओ के अनुकूल विज्ञान, व्यवस्था और विज्ञापन के भिन्न साधनो से ढालना आज के युग की विशेषता वन चुकी है। मनुष्य यह महसूस करने लगा है कि वह किसी रहस्यमयी शक्ति और क्रिया के अन्तर्गत अपने व्यक्तित्व और विचार वदल रहा है। विचारो का अर्द्धचेतन परिवर्तन और मानसिक अनुकूलता मनुष्य के स्वातन्त्र अस्तित्व को खत्म कर रही है। प्रचार, विज्ञान, बुद्धि पर नियन्त्रण करने वाली दवाओ और ड्रग्स और व्यवस्थित सगठनो के प्रभाव के विरुद्ध व्यक्ति के स्वातन्त्र्य और अस्तित्व को फिर से स्थापित करने के लिए आधुनिक लेखक अपनी रचनात्मक प्रतिभा का इस्तेमाल कर रहे है और सास्कृतिक अनुकूलता के विरुद्ध सघर्ष कर रहे हैं।

आज हर चीज वडे पैमाने पर हो रही है। विश्वजननी रूप से। और जो शक्तिया उन पर हावी हैं, व्यक्ति की पहुँच उन तक नही और वे उसकी बुद्धि से परे है। यह जानना वडा कठिन है कि इस सारी मशीन को कौन चला रहा है। लेकिन हम यह जानते हैं कि हम इसी मशीन के पुर्जे हैं। यह नया समाज एक पूर्वनिश्चित योजना के अन्तर्गत व्यवस्थित और अर्द्धकेन्द्रित शक्ति के द्वारा क्रियाशील नौकरशाही और राज्य सत्ता को जन्म दे रहा है। यह एक ऐसे व्यवस्थापन को स्थापित कर रहा है जिसके सदस्य हैं—वैज्ञानिक, व्यापारी, सेनानायक और राजनीतिज्ञ, और यही लोग तमाम राजनीति और अर्थ व्यवस्था के मालिक बनते जा रहे है।

इस व्यवस्थित भीमकाय सगठन ने एक ऐसे मनुष्य की रचना की है जिसे 'आर्गेनाइजेशन मैन' का नाम दिया गया है, जो एक विशेषज्ञ है—व्यक्तिगत विचार और विवेक और कर्म के बाहर निजी रिश्तों को त्याग देने वाला, सगठन का गुलाम और उसके चिन्तन का समर्थक। जेम्स बर्नहम ने अपनी पुस्तक 'द मैनेजीरियल रेवेल्यूशन' और विलियम व्हाइट ने 'आर्गेनाइजेशन मैन' मे इस सामाजिक क्रिया का बडा अच्छा विश्लेषण किया है। साहित्य-

कारों ने भी इन प्रश्नो पर विचार किया है और इन्हें साहित्य का विषय बनाया है। बर्नहम ने लिखा है कि पूँजीवाद निश्चय ही खत्म हो रहा है लेकिन इसके बदले मे जो समाज स्थापित हो रहा है, वह प्रजातन्त्र और वर्गहीन समाजवादी ससार नही बल्कि नये ढग का नियोजित और केन्द्र द्वारा चालित नौकरशाही का फासिस्ट समाज है, जिसमे मनुष्य की स्वतन्त्रता को धीरे-धीरे नष्ट कर दिया जायेगा। उत्पादन के साधनो पर वास्तविक नियन्त्रण व्यापारी, टेक्निशियन और नौकरशाही का होगा। वे ही समाज के वास्तविक शासक होगे और यह समाज दासता पर आधारित होगा।

आज यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि मनुष्य के निजी जीवन पर सगठन का राज्य स्थापित हो चुका है। व्यक्ति मानसिक और नैतिक सघर्ष मे से गुजर रहा है। प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती है कि वह स्वय न रह कर कोई दूसरा बन जाये, जिसके विरुद्ध बुद्धिजीवी विद्रोह कर रहे हैं। आलडस हक्सले, जार्ज आर्वेल और फ्राज काफ्का ने विज्ञान, राजनीति और *अस्तित्व के दायरे मे इस समस्या पर बहस की है।* व्यक्ति की निजी जिन्दगी और विचार व क्रिया की स्वतन्त्रता के नष्ट होने के खतरे ने जिस भय और आतक को जन्म दिया है, आधुनिक साहित्य इसे प्रस्तुत कर रहा है। काफ्का के 'द कैसल' मे इसी सकट की एक भयकर तस्वीर मिलती है।

मूल्यो के क्षेत्र मे सस्कृति का यह सकट अधिक स्पष्ट है। स्थिर और अटूट मूल्य अर्थहीन हो चुके हैं। परम्परागत मूल्य अर्थहीन ही नही, अनावश्यक और असगत भी हैं। मूल्यो का यह सकट इस हद तक तीव्र हो गया है कि लेखक किसी भी राजनीतिक या सामाजिक आदर्श के लिए सघर्ष करने के बजाय अपराध, बलात्कार, समलैंगिक सबधो और हिंसा व हत्या को साहित्य का विषय बनाने मे अपनी रचना प्रक्रिया का प्रयोग करता है। वह बडे गर्व से कहता है कि वह बगैर आदर्श का विद्रोही है, जैसाकि विक्षुब्ध लेखको का रवैया है। ऐसे लेखक बीट्स की तरह इस बात को स्वीकार करते है कि जो कुछ वे अनुभव कर रहे हैं, वह अपने अपरिपक्व रूप मे कितना ही बर्बर, कामोत्तेजक और अनैतिक क्यो न हो, उसे प्रस्तुत करना साहित्य की जरूरत है। आन्द्रे जीद ने सही कहा है कि जिसके पास अपने आप के सिवा कोई आदर्श न हो, वह भयानक शून्य का शिकार है। विज्ञान और विशेष रूप से जीवशास्त्र और गर्भ निरोध के ज्ञान ने यौन मूल्यो के क्षेत्र मे आश्चर्यजनक परिवर्तन ला दिया है। गर्भनिरोध के नये-नये तरीके और प्रचार, यौन-स्वत-

न्त्ता और प्रेम के बदलते हुए विचार, परिवार और वैवाहिक सबधो को नई दृष्टि से देखने पर विवश कर रहे हैं। किसी ने ठीक ही कहा है कि डार्विन न मनुष्य को पशु का शरीर दिया और फ्रायड ने पशु की काम-वृत्ति। मनुष्य इस नय ज्ञान की रोशनी म प्रचलित मूल्यो को त्याग रहा है। थालीडोमाईड के इस्तेमाल ने नई समस्या खडी कर दी है कि करुणाजनक हत्या क्या उचित नहीं और कृत्रिम वीर्य प्रवेश ने केवल परिवार और विरासत के कानूनो को ही नही बल्कि पारिवारिक जीवन के मूल्यों का भी बदल दिया है। यह सही है कि 'रबर के इस्तेमाल के द्वारा गर्भनिरोध के तरीको न हमारे यौन-मूल्या को बदल दिया है।

जीर्ण रीति-रिवाज और रूढिग्रस्त विचारा मे विद्राह प्रबुद्ध साहित्यकारो के स्वभाव मे शामिल है। प्रत्येक युग म कवि और कलाकार प्रचलित समाज की विषमताओ से क्षुब्ध हुए हैं और उन्होंने आक्रोश प्रकट किया है। अपन विचारो और अनुभवा तथा अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने कई बार सनसनीपूर्ण साधनो का प्रयाग भी किया है या कभी-कभी चौंका देन वाली हरकतें भी की हैं। लेकिन ह्रासोन्मुख मूल्या क विरुद्ध उनका विद्राह किसी नय आदर्श की परिपूर्ति के लिए होता था और उनके आक्रोश का कारण उनकी मानवीय भावना की अतिशयता होती थी। नये मूल्यों की खोज उनकी सृजनात्मक प्रवृत्ति को क्रियाशील करन म सहायक सिद्ध होती थी। लेकिन पिछले कुछ वर्षों म इग्लैंड के कुछ ऐसे लेखका की रचनाए पढने को मिली जो आधुनिक समाज की प्रचलित स्थापनाओं से विद्रोह और मानवीय सद्भावना में सशय प्रकट कर रहे हैं। व विद्रोही हैं लेकिन उनका कोई लक्ष्य नहीं। वे विक्षुब्ध हैं लेकिन किसी से सहानुभूति के कारण नहीं। व निरीह हैं लेकिन अभी नयी दृष्टि का विकास नही कर सके। वे एस लेखक हैं जो केवल यही महसूस नही करत हैं कि व अपन वातावरण स कट चुके हैं बल्कि यह भी महसूस करते है कि वे समाजेतर (आउटसाइडर) हैं। कुछ को तो यह भ्रम भी होन लगा है कि वे नय मसीहा या युग पुरुष हैं जो मनुष्य को मुक्ति के मार्ग पर ले जा सकते है।

इनम स कुछ लेखक अपन आपको मजदूर समाजवादी कहते हैं और व्यक्तिवाद में उद्धार की आकाक्षा रखते हैं। औद्योगिक युग मे नयी सामाजिक और आर्थिक सस्थाओ, युद्ध, आर्थिक विषमताओ और राजनीतिक सामूहिकता ने जिस सस्थागत मानव या कमेटीमैन को जन्म दिया है वह वैयक्तिकता को नष्ट कर देता है।

एण्टी थिएटर आधुनिक युग के जीवन, ह्रासोन्मुख सभ्यता और उसकी पेचीदा समस्याओ से पैदा हुआ है। इसका विचार है कि कोई ऐसा उद्देश्य नही, जिसके लिए संघर्ष किया जाये। क्रान्ति और सुधार के नारे बेकार हैं। मनुष्य बुनियादी तौर पर गुमराही और उलझनो का शिकार है। प्राचीन मान्यताएं मुर्दा हो चुकी है। इसलिए उनसे विद्रोह जरूरी है। हम प्रचलित चिन्तन के विरुद्ध एक घृणापूर्ण प्रतिरोध कर सकते हैं, लेकिन उसे बदल नही सकते और यह प्रतिरोध भी अमूर्त स्तर पर ही संभव है। स्पष्ट है कि यह मानसिक स्थिति भी उन्ही परिस्थितियो से पैदा हुई है, जिन्होंने विक्षुब्ध नवयुवको और 'बीट्स' को जन्म दिया है। △

साहित्यकार और स्वतन्त्रता का अस्तित्ववादी बोध

"मनुष्य अकेला और थका हुआ है।" हैडगर ने कहा था। इस अकेले, थके हुए, निराश, और भयभीत मनुष्य के सामने क्या रास्ता है? मार्क्स ने मनुष्य को भौतिक एवं ऐतिहासिक नियतवाद का गुलाम घोषित किया था और फ्रायड ने बचपन की अवचेतन प्रवृत्तियों का और अन्य दार्शनिकों ने किसी बाह्य शक्ति या ईश्वर का। लेकिन मनुष्य की समस्याएं और अधिक पेचीदा होती गई। हर व्यक्ति अपने निर्णय और अपनी क्रिया के लिए स्वयं ही जिम्मेदार है। इसलिये उसे निर्णय और क्रिया में वरण करना पड़ता है और इस वरण के लिए यह स्वतन्त्रता मूल शर्त है। राज्य या ईश्वर या कोई दूसरा व्यक्ति किसी के लिए यह वरण नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता का इस्तेमाल ऐसा डर पैदा करता है जिससे भयभीत होकर कुछ लोग धर्म में शरण लेते हैं। कुछ राज्य के गुलाम बन जाते हैं। लेकिन सच्चा इन्सान वह है जो इस स्वतन्त्रता से नहीं डरता। इस आजादी का इस्तेमाल करता है और उसकी पूर्ण जिम्मेदारी स्वीकार करता है। क्योंकि वह स्वतन्त्र व्यक्ति है इसलिए उसे हर कष्ट का सामना करना पड़ता है। यह कष्ट चाहे शारीरिक हो या मानसिक या आध्यात्मिक। केवल ऐसे व्यक्ति का ही अस्तित्व सम्भव है जो सकल्प और क्रिया की स्वतन्त्रता के लिए हर कीमत देने के लिए तैयार है। शेष सब अ-मनुष्य हैं। उनका कोई अस्तित्व नहीं। यही अस्तित्व की शर्त है। अस्तित्व के बगैर कोई तत्व नहीं। इसलिए पहले से निश्चय कोई आदर्श या मूल्य या कोई बाह्य शक्ति (ईश्वर समेत) मनुष्य के अस्तित्व का निर्माण नहीं करती।

अस्तित्ववाद विशुद्ध साहित्यिक आन्दोलन नही। एक दार्शनिक सिद्धात है लेकिन सार्त्र ने इसे अपने साहित्य का मूल तत्व बनाकर प्रस्तुत किया है। इसलिये यह दर्शन की पुस्तको से कम लेकिन उसके अनुयायी लेखकों की कृतियो द्वारा अधिक लोकप्रिय हुआ यद्यपि इस दर्शन की रचना में हुसरल, कीर्कगार्ड, यास्पर, मार्सेल, हैडगर, नित्शे, वर्देयफ और बूबर जैसे चिन्तको ने महत्वपूर्ण योग दिया है। कीर्कगार्ड, नित्शे, और दस्तोवस्की ने मनुष्य को उसकी समस्त विवशताओं के साथ एक साहित्यिक दृष्टिकोण से देखा। इन सब ने सच्चाई को एक निजी अनुभव स्वीकार किया है। इन्होने अस्तित्व पर हावी उन सब वस्तुओ को जो धर्म, समाज, दर्शन या नीति से ही क्यो न पैदा हुई हो, तोड़ने की कोशिश की है जिससे व्यक्ति को विशिष्ट हैसियत और जीवन के बारे म नयी दृष्टि मिली है।

अस्तित्ववाद का मूल सिद्धान्त क्या है ? हर मनुष्य के सामने विभिन्न सभावनाए और रास्ते हैं जिनमे से उसे एक राह या कुछ राहो को चुनना पड़ता है। यह वरण किसी आधार पर किया जाता है। इस वरण की क्रिया में मनुष्य अपने वरण का मूल्य निश्चित करता है। मनुष्य का अस्तित्व उसके वरण से पहले आता है। इसलिये मनुष्य की कोई परिभाषा सभव नही और न ही किसी स्थायी मानव प्रवृत्ति को ही वर्णित किया जा सकता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य सिवाय इसके कुछ नही जो वह स्वय को बनाता है। मनुष्य अपने वरण की क्रिया म ही सही तौर पर मनुष्य है। प्रश्न उठता है कि क्या हम सही वरण करते हैं या इसके योग्य हैं। कीर्कगार्ड ने कहा है कि अर्थपूर्ण जीवन उन मूल्यो म है जिनकी हम खोज करते हैं। मनुष्य की मानवता वरण की अच्छाई मे नहीं बल्कि सच्चाई मे है कि उसने वास्तव मे वरण किया है। मूल्य उसके वरण के बाद पैदा होते है। इसलिये अस्तित्व तत्व से पूर्व आता है। अस्तित्ववाद अस्तित्व से वरण के सिद्धात तक पहुँचता है और फिर वरण से स्वतन्त्रता के विचार तक। मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता को छोड़ने मे स्वतन्त्र नही, मनुष्य स्वतन्त्र होने पर मजबूर है। वह किसी प्रकार की नियति का गुलाम नहीं। स्वतन्त्र उत्तरदायित्व ही व्यक्ति के अस्तित्व का पैमाना है। व्यक्ति की जिम्मेदारी ही उसका पैमाना है कि उसने वह किस हद तक प्राप्त की है।

सार्त्र के विचार मे मनुष्य अपनी स्वतन्त्रता से आतंकित रहता है और दूसरो को स्वतन्त्रता से वंचित रखना चाहता है मनुष्य सिवाय अपने और किसी पर विश्वास नहीं कर सकता। वह अकेला है। वह अपनी असीम जिम्मेदारियो से घिरा हुआ इस ससार मे छोड दिया गया है—बगैर किसी

सहायता और सहारे के और बगैर किसी प्रयोजन के, सिवाय इसके जो वह स्वयं निर्धारित करता है और बगैर किसी मंजिल के, सिवाय इसके जो वह स्वयं निश्चित करता है। मनुष्य पूर्ण रूप से स्वतन्त्र इस 'एब्सर्ड' दुनिया में आता है और केवल वही अपने स्वतन्त्र वरण के द्वारा इसको अर्थ देता है। हर मनुष्य का अर्थ-बोध दूसरे से भिन्न होता है। इसलिये सब लोगों के लिए एक सामान्य मूल्य निश्चित नहीं किया जा सकता। यह स्वतन्त्रता बड़ा भयानक बोझ है। व्यक्ति की यही कोशिश होती है कि वह इन जिम्मेदारियों से जो स्वतन्त्रता के साथ जुड़ी हुई हैं, बच सके। वह हर प्रकार की बेकार क्रियाओं में लगा रहता है ताकि वह व्यस्त रहे और उसे संसार में तनहाई का अहसास न होने पाये। सार्त्र का विचार है कि अपने यथार्थ का बोध प्राप्त करके ही आत्मप्रवंचना से बचा जा सकता है और यदि मनुष्य इस कष्ट-दायक बोध, अपनी पूर्ण जिम्मेदारियों और तनहाई का मुकाबला करने का साहस पैदा कर ले तो वह न केवल इस कष्टजनक बोध से बाहर निकल आयेगा बल्कि उसमें मूल्य भी पैदा हो सकेंगे।

क्योंकि मनुष्य के चरित्र का निर्माण उसी समय होता है जब वह कोई वरण करता है इसलिये व्यक्ति हमेशा सन्त्रास से परेशान रहता है। आदमी वही कुछ है जो स्वयं को बनाता है। जो मनुष्य इस जिम्मेदारी से भागते हैं, झूठे मूल्य, ईश्वर, आत्मा, नैतिकता, दूसरे संसार, स्वाभाविक अच्छाई आदि का सहारा लेकर वास्तव में झूठे विश्वास और आत्मछलना के अपराधी हैं। अस्तित्ववादी लेखक मनुष्य के मूल तत्वों में उसके अवचेतन और अर्धचेतन की असंगत क्रिया को महत्वपूर्ण दर्जा देते हैं। मनुष्य इस पेचीदा परिस्थिति से केवल प्रतिबद्धता द्वारा ही बच सकता है। अर्थात् मानव समस्याओं में स्वतन्त्र वरण के द्वारा निश्चित भाग लेकर ही वह *अपने अस्तित्व को प्रमाणित* करता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह दुनिया निरर्थक और 'एब्सर्ड' है। लेकिन मनुष्य को नये मूल्यों की रचना और संघर्ष करने का अधिकार प्राप्त है। जीवन यदि निरर्थक है तो मनुष्य भी स्वतन्त्र है, उसे अर्थवान बनाने में। यही कारण है कि सार्त्र के साहित्य में शून्यवाद मौजूद नहीं बल्कि इसमें नये मानवतावाद का दर्शन है। *सार्त्र ने चेतना या बोध को जीवन का सबसे* बड़ा मूल्य माना है। मनुष्य के बनने-सँवरने की समस्त जिम्मेदारी उसके कंधों पर डाल दी है। मनुष्य का अस्तित्व ही सत्य है। मनुष्य से ऊपर कोई *सत्य नहीं। मनुष्य को अपने तत्व से पूर्व अपने अस्तित्व का बोध होता है।* मानव प्रकृति के बने-बनाये नियम नहीं होते बल्कि कुछ आदतें हैं और इनमें

से कोई भी किसी दिन बदल सकती हैं। यह सिद्धान्त इन शब्दों से प्रकट है, 'कोई ईश्वर नही, कोई आदिम पाप नही। कोई पिता नही, कोई माता नही। कोई गलत शिक्षा नही, कोई गवर्नेस नही, कोई शिक्षक नही। यहा तक की कोई प्रवृत्ति, रुझान या ग्रन्थि भी नही। बचपन का प्रशिक्षण नही —मनुष्य स्वतन्त्र है।'

जब मनुष्य अपनी समस्त परिस्थितियों के लिए स्वय उत्तरदायी है तो अस्तित्व का महत्वपूर्ण केन्द्र स्वतन्त्रता बन जाती है।

जीवन और स्वतन्त्रता का अर्थ यह है कि जो कुछ है या कभी था, उससे पूर्ण अलगाव और नये की रचना। मनुष्य की यही कोशिश उसकी क्रिया का कारण बनती है। मनुष्य का इस दुनिया मे होना केवल एकरूप नही बल्कि क्रिया, वरण और अपनी सभावनाओ के अनुकूल अपनी रचना करने की कोशिश का नाम है। सार्त्र ने कहा है कि मैं मरने के लिए स्वतन्त्र नही बल्कि एक स्वतन्त्र व्यक्ति हूँ जो मरता है।

अस्तित्ववादी चिन्तको के विचार मे मनुष्य पूर्ण तनहाई मे पूरी जिम्मेदारी के साथ अपने मूल्यो का स्वय वरण करता है। वह अपनी मजिल स्वय निश्चित करता है। इस वरण मे खतरे हैं। लेकिन मनुष्य स्वतन्त्र होने के कारण यह वरण करने पर विवश है। स्वतन्त्रता ही सब मूल्यो को जन्म देती है। मनुष्य मूल्यो की रचना मे अपनी स्वतन्त्रता नही खोना चाहता। सार्त्र ने 'अस्तित्ववाद और मानवतावाद' मे लिखा है कि यह सही है कि दुनिया के अधिकतर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता से पलायन करते हैं और नकली अस्तित्व मे शरण लेकर सतोष अनुभव करते हैं। अपनी चेतना से पैदा चिन्तन या भय से भागने की मनोवृत्ति आत्म-छलना है। दुनिया के बने बनाये मूल्यो मे विश्वास रखने वाले लोग अस्तित्व मे सत्य को नही पहचानते।

यदि ईश्वर का कोई अस्तित्व नही तो हमे कोई मूल्य या आदेश नही दिये गये जो हमारे व्यवहार को गलत या सही निश्चित कर सकें। इसलिये न हम से पहले और न हमारे सामने ही मूल्यो का कोई ससार है। सार्त्र ने कहा है कि मेरा अभिप्राय यही है जब मैं यह कहता हूँ कि मनुष्य स्वतन्त्र रहने पर विवश है। विवश इसलिये कि उसने स्वय अपने को पैदा नही किया लेकिन फिर भी वह स्वतन्त्र है। और उस क्षण से जब वह दुनिया में फेंका गया है, वह हर काम के लिए जो वह करता है, जिम्मेदार है। क्योंकि ईश्वर नहीं, इसलिये भाग्य नही। मानव प्रकृति केवल एक अर्थहीन विचार है। मानव प्रकृति को स्वीकार करने का अर्थ ऐसी शक्ति को स्वीकार करना है जो मनुष्य के अस्तित्व से पूर्व पैदा हुई है। सार्त्र के शब्दो मे अस्तित्ववाद का मूल दर्शन है—कोई नियति नही। मनुष्य स्वतन्त्र है। मनुष्य स्वतन्त्रता है। △

सगठन का दैत्य और अस्वीकार का स्वर

आधुनिक साहित्य का एक महत्वपूर्ण विषय है अस्तित्व का सकट । आज मनुष्य एकाकीपन म घिरा अपने परिवेश से कटता जा रहा है । परिवार का आश्रय टूट चुका है । समाज उसकी निजी हैसियत को कायम रखने में असमर्थ है । अब कोई आदर्श ऐसा नही जिसके लिए मनुष्य सघर्ष करना आवश्यक समझे क्योंकि तमाम आदर्श झूठे सिद्ध हो चुके हैं । मूल्यों के साथ उसकी सम्पृक्ति सभव नहीं क्योंकि मूल्य भी टूट चुके हैं । इसलिये वह ऐसे सकट का शिकार है जिसे अस्तित्व के सकट का नाम दिया जा रहा है । मनुष्य अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखने और यह सिद्ध करने और अपने आपको विश्वास दिलाने के लिए कि उसका अस्तित्व कायम है, किसी भी हद तक जा सकता है—प्रचलित रीति-रिवाज से विद्रोह से लेकर अपराध को दर्शन का रूप देने तक । इस सकट के कारण आधुनिक मनुष्य अपने जीवन और सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सगठनो का निरीक्षण करने पर विवश है जो वास्तव मे एक ऐसे सम्पूर्ण सगठन को स्थापित कर रहे हैं जिसमे मनुष्य की निजी हैसियत खत्म हो जाती है और वह केवल मशीन का एक पुर्जा बन कर रह जाता है । वह इन सगठनो म अपनी हैसियत निश्चित करना चाहता है ताकि वह अपने अस्तित्व के बारे मे सुरक्षित महसूस कर सके । और कई बार वह इन सगठनो से पूर्ण तादात्म्य स्थापित करके अपने अस्तित्व का प्रमाण देता है । अपने आप को सुरक्षित महसूस करता है । लेकिन अन्तत: उसे अनुभव होता है कि उसका अस्तित्व और बाह्य सगठनों के सम्बन्ध इतने पेचीदा और भ्रामक हैं कि उसे अस्तित्व के झूठे बोध को सत्य मानना पडता है और इन मिथ्या को 'सत्य' बनाने के शाब्दिक गोरखधन्धे मे सगठनो के कायदे कानूनो और प्रच्छन्न अभिप्रेरणा का बहुत बडा रोल है ।

आधुनिक साहित्य मे हम इसी अस्तित्व के सकट से परिचित होते हैं। आधुनिक साहित्य के पात्र का मानसिक रवैया और व्यवहार बहुत कुछ इससे निश्चित होता है कि उसके अस्तित्व के सकट की स्थिति क्या है और वह उससे किस तरह और किस हद तक जूझ रहा है। पात्र अस्तित्व की तलाश मे भटकते है। वे अपने अनुभवो को सार्थक बनाने की कोशिश करते है। लेकिन उन्हे अन्तत यह मालूम होता है कि कोई भी अनुभव या आदर्श या सगठन या व्यवहार उनके अस्तित्व को प्रमाणित नही कर सकता और उनके अस्तित्व के अर्थ का बोध नही दे सकता। आधुनिक साहित्य का नायक इस प्रकार बगैर किसी सिद्धान्त या आदर्श से प्रतिबद्धता के कारण समाज की कई सतहो मे चक्कर काटता है और मूल्यो की खोज करने का प्रयत्न करता है जिनमे वह अपनी प्रतिबद्धता प्रकट कर सके ताकि वह यह मालूम कर सके कि वह आखिर 'क्या है'। क्या वह केवल एक अनाम अस्तित्वहीन व्यक्ति है• ••

अस्तित्व का यह विघटन वास्तव मे मनुष्य की मानसिक दशा, तनहाई के भय और मूल्यो के विघटन को बडी हद तक निश्चित करता है। जब तक एक ठोस अस्तित्व का प्रमाण और उसकी अर्थवत्ता का उसे विश्वास नही हो जाता, वह इस मानसिक स्थिति से मुक्त नही हो पाता। व्यक्तित्व और अस्तित्व का विनाश मनुष्य को अनिश्चित स्थिति और विघटन की गहरी गुफा म फेंक देता है। और इस विघटन की दिशा मे मनुष्य अपराध से लेकर पागलपन का शिकार होने तक किसी भी मानसिक स्थिति का शिकार हो सकता है।

मनुष्य की स्थिति और उसकी समस्याएँ और उसके साथ उसके अपने व्यक्तित्व की दुर्बलता उसके उत्साही व्यवहार के रास्ते मे रुकावट हैं। इसलिए आज कथा साहित्य म 'हीरो' का पतन दिखाई देता है और इसीलिए 'एण्टी हीरो' के चित्रण को बडा महत्व प्राप्त हुआ। यह लघु मानव और विशाल समुदाय की हास्यास्पद स्थितियाँ आधुनिक साहित्य को विषय और रूप के नये नये प्रयोगो के लिए बडी उर्वर भूमि उपलब्ध कराती हैं।

अस्तित्ववादी साहित्यकारो ने अपनी रचनाओ मे अस्तित्व की समस्या को तनहाई और सन्त्रास के साथ जोड कर प्रस्तुत करने की कोशिश की है जब कि दूसरे साहित्यकार केवल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सगठनो को ही निशाना बना कर रह गये। उनके अनुसार इन सगठनो और इन

आदर्शों से असम्पृक्त होने के कारण मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का मूल्य निश्चित करने के लिए तनहा छोड दिया गया है और सिवाय इसके उसके पास कोई रास्ता नही। मनुष्य को अपनी दृष्टि स्वय ही पैदा करनी पडेगी और उसे अपनी निजी दृष्टि से हर चीज को परखना पडेगा। कोई भी सामूहिक आदर्श या दर्शन उसकी सहायता नही कर सकता इसलिये कि सही दृष्टि आन्तरिक होती है। आधुनिक साहित्य मे मन की दुनिया की खोज का भी यही कारण है। अस्तित्ववादियो का विचार है कि मनुष्य अपनी विशाल सभावनाओ और अपनी बडी सीमाओ के बीच घिर गया है। अस्तित्ववादी उसे इन सभावनाओ और सीमाओ की चेतना प्रदान करता है और निजी मूल्यो के वरण पर बल देता है क्योकि मूल्यो की खोज व्यक्ति स्वय ही कर सकता है। अपने अनुभव से ही उसे मूल्य खोजने पडेंगे। सगठन मूल्यों का जो भ्रम कायम करते हैं, उनसे विद्रोह और अस्वीकार के सिवा और कुछ सभव नही। 'सगठन मनुष्य के अस्तित्व को किस प्रकार सकट म डाल रहा है, इसका चित्रण कई सुप्रसिद्ध उपन्यासो म बडी सजीवता के साथ किया गया है।

प्रश्न यह नही कि ये सगठन बडे शक्तिशाली और व्यापक हैं बल्कि यह है कि आधुनिक सगठन एक ऐसी मानव-घाती शक्ति का पोषण कर रहे हैं जो मनुष्य को उसके मानव गुण और वैयक्तिक स्वत्व से पृथक करके उसे यत्नवत् (आटोमेटन) जीवन व्यतीत करने पर विवश कर रहे हैं—एक मूल्य-हीन, विवेक शून्य और बुद्धिविहीन प्राणी के रूप मे जिसका न कोई विशेष नाम है और न भिन्न चेहरा। आधुनिक साहित्य के महत्वपूर्ण विषय मे मनुष्य की इसी परिवस्त स्थिति का चित्रण मिलता है।

आधुनिक साहित्य के अति सगठन द्वारा मनुष्य के निजी और पारिवारिक जीवन के विघटन और उसके स्वत्व के विलयन की अतिवेदना का चित्रण किया गया है। इस प्रकार की कृतियो ने अस्तित्ववादी और 'एब्सर्ड' साहित्य को एक नया आयाम दिया है। और यह चुनौती दी है कि सर्वसत्तावाद और व्यावसायिक अतिसगठन का विरोध निजी मूल्यो और अस्तित्व क सरक्षण द्वारा ही सभव है।

आल्डस हक्सले की एण्टी यूटोपिया 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' मे मनुष्य अपने अस्तित्व की वैयक्तिकता पूर्ण रूप से खो चुका है। विज्ञान ने सत्तारूढ राज-नीतिज्ञों के हाथ मे शक्ति और विनाश के जो अन्तिम अस्त्र दे दिये हैं, उनके

ही अन्तर्गत मनुष्य एक पूर्व निर्धारित योजना और नियन्त्रित समाज की आवश्यकताओ के अनुकूल प्रयोगशालाओ म पैदा किये जाते है और उनका निर्माण उनके प्रयोजन के अनुरूप होता है। सार्वजनिक प्रसार के नये साधन प्रच्छन्न अतिप्रेरणा (हिडन पर्सुएशन), और बुद्धिप्रक्षालन् द्वारा मनुष्य के विवेक और प्रज्ञा को नष्ट करके एक ऐसे समाज की नीव डाली जा रही है जिसमे वैयक्तिक स्वत्व जैसी वस्तु नहीं होगी। मनुष्य सगठन से पूरी तरह तादात्म्य स्थापित कर चुका होगा। साहित्य, कला और दर्शन को भी समाज से बहिष्कृत कर दिया जाएगा।

इस नये ससार के लोग अपने जीवन और वातावरण से सन्तुष्ट है। वे 'सोम' (एक मादक औषधि) का प्रयोग करते है। लेकिन इस पूर्वनिर्धारित ससार म भी सशय और असन्तोष के चिह्न मिलते हैं। उपन्यास के दो महत्वपूर्ण पात्र-बर्नार्ड मार्क्स और उसका मित्र हेल्मोल्ज़ वाटसन-अपनी सृजनात्मक बेचैनी के कारण असन्तुष्ट रहते है और इस समाज मे अपने आपको अजनबी महसूस करते हैं। इस नये 'सभ्य' ससार के मानवघाती मूल्यो के विरोध मे वहशी (असभ्य) जान का चरित्र उभरता है। बर्नार्ड जब वहशी जान को इस नये ससार मे लाता है तो इसम हलचल पैदा हो जाती है। हेल्मोल्ज उससे शेक्सपीयर की कविताए सुन कर अपने कृत्रिम मूल्यो और कलाविहीन सस्कारो के प्रति सशकित हो उठता है। बर्नार्ड, हेल्मोल्ज और जान समझते हैं कि 'सोम' द्वारा उन्हें प्रज्ञाहीन और विवेकशून्य बनाया जा रहा है और उन्ह इस ससार के प्रति पूर्ण रूप से अनुकूल बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं ताकि उनका कोई निजी अस्तित्व न रहे। वे मिलकर 'सोम' के विरुद्ध विद्रोह प्रदर्शन करते हैं। लेकिन प्रामाणिकता और अतिबद्धता के इस ससार मे उनका विद्रोह असफल रहता है और उन्ह अभियोगी के रूप मे पश्चिमी यूरोप के स्थानीय जगत नियन्त्रण अधिकारी मुस्तफा माड के सामने पेश किया जाता है। मुस्तफा माड अपनी युवावस्था मे उग्रपथी था लेकिन निर्वासन से बचने के लिए वह सरकारी नौकरी—व्यवहारसिद्ध परिपाटी—को स्वीकार कर लेता है। हेल्मोल्ज को देश निर्वासन का आदेश मिलता है क्योकि वह अपने व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता को श्रेयस्कर समझता है और मानसिक स्वतन्त्रता के लिए सुख और शान्ति को त्याग देता है तथा कष्ट सहने क साहस का सबूत देता है। बर्नार्ड कायरता के कारण नशे का शिकार बना दिया जाता है और वह आत्म-समर्पण करने पर विवश हो जाता है। वहशी जान को वैज्ञानिक प्रयोगो के लिए इस्तेमाल किया जाता है। मुस्तफा

माड जब जान से कहता है कि यह सब कुछ उसके सुख के लिए किया जा रहा है तो जान उत्तर देता है

> 'लेकिन मैं सुख नहीं चाहता। मैं ईश्वर चाहता हूँ। मैं कविता चाहता हूँ। मैं वास्तविक खतरा चाहता हूँ। मैं स्वतन्त्रता चाहता हूँ। मैं पुण्य चाहता हूँ। मैं पाप चाहता हूँ।
>
> मुस्तफा मॉड कहता है 'वास्तव मे तुम दुखी रहने का अधिकार चाहते हो।
>
> 'यही सही' कहकर जान उत्तर देता है 'मैं दुखी रहने का अधिकार चाहता हूँ।'

क्योंकि वह विकल्प-स्वातन्त्र्य चाहता है।

जान को इसका मूल्य चुकाना पडता है। वह इस अध्यात्मशून्य ससार के आतक से पागल हो जाता है। क्योकि 'सभ्य' ससार म सुख और सुरक्षा तो है लेकिन ईश्वर, कविता स्वातन्त्र्य और विवेक नही। और इनके अभाव मे जान का कोई अस्तित्व नही। इस ससार की सार्वजनिक सामूहिकता, अनुरूपता और सुरक्षित स्थिति की आत्मशून्यता से निराश होकर जान आत्महत्या कर लेता है।

अतिसगठन से 'असभ्य' मनुष्य की मुक्ति यदि पागलपन और आत्महत्या म है तो पार्टी सदस्य की गति पूर्ण समर्पण और 'बिग ब्रदर' से तादात्म्य और कृतज्ञतापूर्ण स्नेह प्रकट करने म है। जार्ज आर्वेल के उपन्यास १९८४' (एक और एण्टी-यूटोपिया) मे मनुष्य की इसी दयनीय और भयावह स्थिति का चित्रण मिलता है। जब विज्ञान और मनोविज्ञान सर्वसत्तावाद के अतिसगठन के दमनयन्त्र के अस्त्र बन जायें तो 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' का आतक आर्वेल के '१९८४' के भयकर ससार मे परिवर्तित हो जाता है। हक्सले ने यह स्वीकार किया है कि '१९८४' मे आर्वेल की यथार्थ-कल्पना' सत्य के अधिक समीप है और निकट भविष्य मे सभव। '१९८४' का ओब्रेन 'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' के मुस्तफा मॉड की भाँति ब्युरोक्रेट उच्च अधिकारी है। वह राज्यसत्ता के प्रतीक 'बिग ब्रदर' से उपन्यास के नायक विन्टसन की अनुरूपता प्राप्त करने के लिए अमानुषिक बल और क्रूर यन्त्रणा का प्रयोग करता है। ओब्रेन का कथन है कि शक्ति का प्रयोग शक्ति के और अधिक सचयन के लिए किया जा रहा है। उपन्यास का अन्त इस दृश्य से होता है कि विन्टसन एक रेस्तोरा मे

'बिग ब्रदर' की तस्वीर के सामने बैठा है और उसकी तरफ कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से देख रहा है। उसकी आँखों में आँसू भर आते हैं और वह 'बिग ब्रदर' के प्रति आत्मसमर्पण कर देता है और उससे प्यार करने लगता है—अस्तित्व का पूर्ण विनाश और सगठन के प्रतीक मे पूर्ण विलयन—यह है आर्वेल के आतंकपूर्ण उपन्यास '१९८४' में मनुष्य की नियति।

आर्वेल के विचार मे ससार पूर्ण तानाशाही की राह पर चल रहा है और १९८४ तक समस्त ससार मे तानाशाही राज्य स्थापित हो जाएगा और उसके विरुद्ध विद्रोह निष्फल होगा क्योंकि उस मनहूस वर्ष तक समस्त मानवीय मूल्यों को नष्ट कर दिया गया होगा। तानाशाही के इस बढ़ते हुए खतरे का सामना करने के लिए लोकतन्त्रीय समाजवाद ही एक सही चिन्तन और आन्दोलन है।

आर्वेल ने लिखा है कि फासिज्म एक अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन है जिसका अभिप्राय यह नहीं कि फासिस्ट राष्ट्र केवल लूट के लिए ही इकट्ठे हो सकते हैं' वे शायद, अभी अर्धचेतना से ही सही, एक अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता के लिए सगठित हो रहे हैं। एक तानाशाही राज्य की कल्पना एक तानाशाही ससार की कल्पना में परिवर्तित हो गयी है।

इस शताब्दी की ट्रेजेडी का वर्णन स्वय आर्वेल ने इन शब्दो मे किया है 'बीसवी शताब्दी की चौथी दहाई तक राजनीतिक सिद्धातों की सब बडी-बडी प्रवृत्तिया तानाशाही की हो गयी है। भू-स्वर्ग की कल्पना जब सफल होने चली तो उसे उसी समय त्याग दिया गया।

आर्थर कोयसलर के उपन्यास 'डार्कनेस एट नून' का नायक रुबाशोव सर्वसत्तावाद और उसके नियन्त्रकों के विरुद्ध अपने अस्तित्व को अन्त तक सुरक्षित रखता है। यहा तक कि वह मृत्युदण्ड भी स्वीकार कर लेता है। उसके लिए मृत्यु का क्षण ही अस्तित्व बोध का क्षण है।

अतिसगठन से प्यार, तादात्म्य और उसके सामने आत्मसमर्पण और उससे विद्रोह, आत्महत्या और मृत्युदड-दो बिल्कुल विरोधी परिस्थितियाँ हैं जिनमे आधुनिक मनुष्य भटक रहा है। वह कभी टूट जाता है और कभी उभर आता है। आज अतिसगठन मनुष्य पर कई प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दबाव डाल रहा है। उसके पारिवारिक और निजी जीवन मे हस्तक्षेप करके उसके अस्तित्व को सकट मे डाल रहा है। मनुष्य अपने व्यक्तिगत

जीवन से पृथक होकर संगठन का जीवन व्यतीत कर रहा है। वह उसके मूल्य स्वीकार करता है और निजी विवेक चिन्तन की अपेक्षा संगठन के कायदे-कानून का दास बन जाता है। संगठन में सफलता और उच्चपद प्राप्त करना ही उसकी योग्यता का परिमाप बन जाता है। यही सफलता उसके अस्तित्व को प्रमाणित करती है। विलियम एच हू्वाइट ने अपनी पुस्तक 'द आर्गेना-इजेशन मैन' में इसे 'संगठन मनुष्य' का नाम दिया है। उसके विचार में 'संगठन मनुष्य' मध्यवर्ग का प्रत्येक वह व्यक्ति है जो परिवार के दायरे से मानसिक और शारीरिक तौर पर पृथक होकर संगठन और उसकी प्रणाली को जीवन के हर क्षेत्र में स्वीकार कर चुका है। वह आधुनिक बडे-बडे संगठनों का दिमाग है। संगठन उसके जीवन का मूलाधार है। केवल एक जीविका उपाजन करने वाले मनुष्य के रूप में ही नहीं बल्कि परिवार के सदस्य और एक नागरिक के रूप में भी। आज हमारी शिक्षा और तकनीकी प्रशिक्षण का उद्देश्य ही मूलत यह है कि हम एक 'संगठन मनुष्य' के रूप में समाज में पदप्रतिष्ठा प्राप्त करें और संगठन के अनुरूप अपनी योग्यता बनायें और इस्तेमाल करें। व्यावसायिक पद-प्रणाली में ऊपर, और ऊपर जाने के लिए यह अनिवार्य है।

सलोन विल्सन ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'ए मैन इन द ग्रे फ्लेनल सूट' में इसी संगठन मनुष्य को विषय बनाया है। उपन्यास का नायक टाम राथ एक बहुत बडी व्यापारिक कारपोरेशन में एक उच्च पद पर नियुक्त हो जाता है। इस कारपोरेशन का करोडों डालर का कारोबार है। उसमें सैंकडों कर्मचारी काम करते हैं। राथ उन सैंकडों कर्मचारियों में से एक है। यद्यपि वह एक उच्चाधिकारी है लेकिन कारपोरेशन के विशाल यन्त्र का एक पुर्जा ही है। उसे अच्छा वेतन मिलता है और हर प्रकार के भौतिक सुख उसे प्राप्त हैं। उसके घर में आधुनिक सुविधाएं और यान्त्रिक साधन मौजूद हैं। उसका बैंक बैलेंस दिन प्रतिदिन बढता चला जाता है। वह अपने परिश्रम और सूझ-बूझ से कारपोरेशन के कारोबार को इतना उन्नत कर देता है कि कारपोरेशन उससे प्रसन्न होकर उसका वेतन और अधिक बढा देती है। वेतन और पद उन्नति के कारण कारपोरेशन और समाज में उसकी प्रतिष्ठा और अधिक बढ जाती है। मध्य वर्ग का व्यक्ति अपने जीवन को सुखी और सुरक्षित बनाने के लिए जो भी कल्पना करता है, वह उसे यथार्थ रूप में उपलब्ध है।

लेकिन राथ को कारपोरेशन के लिए इतना अधिक काम करना पडता है कि उसका अस्तित्व संगठन में खो जाता है। अपनी अधिक व्यस्तता के कारण

वह परिवार की छोटी-छोटी खुशियों से वंचित हो जाता है और कारपोरेशन के व्यापक 'परिवार' में गुम हो जाता है। कारपोरेशन पूर्ण रूप से उसके निजी जीवन और परिवार पर व्याप्त हो जाती है। राथ का मानसिक संकट यह है कि वह स्वयं और परिवार के आत्म संबंधों से पृथक होकर कारपोरेशन के अवैयक्तिक यान्त्रिक दैत्य का शिकार होने से बचना चाहता है। वह नहीं चाहता कि वह कारपोरेशन में पूर्ण रूप से विलीन हो जाय और अपना अस्तित्व खो दे। वह 'संगठन मनुष्य' नहीं बनना चाहता। राथ के लिए यह अंजाम बड़ा वेदनापूर्ण है। इसके लिए उसे अपने आदर्शों से विमुख होकर अपनी निजी स्वतन्त्रता और मूल्यों को त्यागना पड़ता है। उसे अपने परिवार से ही नहीं बल्कि स्वयं से भी अजनबी होना पड़ता है।

राथ की आत्मा इस स्थिति से विद्रोह करती है। वह अपनी नौकरी छोड़ने पर तैयार हो जाता है। उसके बॉस उसे कई प्रकार के प्रलोभन देते हैं—कम काम, अधिक वेतन, पद-उन्नति, मान-प्रतिष्ठा, हालीवुड का ग्लैमर। लेकिन वह हर प्रलोभन को ठुकरा देता है।

वह कारपोरेशन के डाइरेक्टरों के सामने एक भाषण देता है जबकि उसे अधिक वेतन का प्रलोभन दिया जाता है जिसमें उसे निरन्तर काम में जुटे रहना पड़ेगा।

> "मैं पैसा चाहता हूँ। मुझ से अधिक कोई दूसरा पैसे को इतना नहीं चाहता लेकिन मैं ऐसा व्यक्ति नहीं हूँ जो शाम गये तक सप्ताहान्त में और हमेशा इसी प्रकार निरंतर काम कर सकता है। मेरा विचार है, समस्या इससे भी अधिक है। मैं ऐसा व्यक्ति नहीं हूँ जो अपनी नौकरी में ही अपने को खो देता है। मैं अपने को यह विश्वास नहीं दिला सकता कि मेरा काम ही दुनिया में सबसे अधिक महत्वपूर्ण कार्य है। मैं एक युद्ध से गुजरा हूँ। समय है दूसरा शुरू होने वाला हो। यदि ऐसा है तो मैं कल्पना करना चाहता हूँ उस समय की जो मैंने युद्धों के दौरान में अपने परिवार के साथ बिताया है जैसा कि उसे बिताना चाहिये।"

और वह अपने पद से त्यागपत्र दे देता है और अपनी पुरानी छोटी-सी नौकरी पर वापस आ जाता है जिससे वह जीवन की आवश्यकताएं पूरी कर सकता है। व्यापक व्यापारिक कारपोरेशन और दफ्तरी नौकरशाही के अवैयक्तिक और आत्मशून्य जीवन को त्याग कर वह अपने परिवार में फिर से

सुखी जीवन व्यतीत करने लगता है। 'ए मैन इन द ग्रे फ्लेनल सूट' अतिसंगठन के आत्मशून्य विवेकहीन स्वार्थरत भौतिकवादी संसार के विरुद्ध एक प्रबुद्ध संवेदनशील व्यक्ति के विद्रोही और संघर्षपूर्ण जीवन की साहसपूर्ण कहानी है। यह उपन्यास एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अति संगठन से मुक्ति प्राप्त करके संगठन मनुष्य' होने से बच जाता है और अपने अस्तित्व को विघटन की अतिवेदना से बचा लेता है।

अस्तित्व की रक्षा का संघर्ष एक अधिक नियन्त्रित व्यवस्था-सैनिक अनुशासन—में जारी रहता है। जोजेफ हेलर के उपन्यास 'कैच २२' का नायक यूसारियन युद्ध की निरर्थकता को भली-भाँति पहचान चुका है। वह सार्वजनिक विज्ञप्तियों के पीछे छिपे झूठ और व्यक्तिगत स्वार्थ को समझता है जिसे वह 'जन सम्पर्क झूठ' (आर्वेल की न्यूस्पीक का ही एक रूप) की संज्ञा देता है। विण्टर ग्रीन उसके लिए प्रेरणास्रोत है क्योंकि वह संगठन से वियोजित हो चुका है। उसका अस्तित्व अभी सुरक्षित है। कर्नल केथकार्ट संगठन मनुष्य है जिसने बगैर किसी प्रश्न और संशय के संगठन के व्यापक अनुशासन को स्वीकार कर लिया है और उससे तादात्म्यता को ही जीवन का लक्ष्य बना लिया है। 'कैच २२' में यूसारियन का संघर्ष और प्रतिरोध सार्थक तो है, असफल नहीं, कैच २२' एब्सर्ड साहित्य की एक मूल्यवान कृति है।

प्रतिसंगठन राजनीतिक, वैज्ञानिक और व्यावसायिक एवं सैनिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं बल्कि जनकल्याण के क्षेत्रों—शिक्षा और स्वास्थ्य में भी इसका प्रहार हो रहा है बर्नार्ड मालमूड का उपन्यास 'ए न्यू लाइफ' कालेज के संपूर्ण संगठन में अंग्रेजी के एक आदर्शवादी प्राध्यापक लेविन की कहानी है जिसका प्रतीक है उसका अधिकारी गिल, जो कालेज के कायदे कानूनों को पूरी तरह स्वीकार कर चुका है। ये कायदे-कानून शिक्षा के उद्देश्य की पूर्ति और उन्नति के लिए कम, संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए अधिक इस्तेमाल में लाये जाते हैं। शिक्षा से अधिक महत्वपूर्ण है, अनुशासन। कालेज से अपनी पूर्ण अनुरूपता के कारण गिल 'संगठन मनुष्य' बन चुका है और वह लेविन को नौकरी से बरखास्त करा देता है—नैतिक आधार पर जो निजी विकल्प और विवेक द्वारा अपने कार्यों के लिए उत्तरदायित्व स्वीकार कर लेता है और जो अपने अनुभवों के प्रति ईमानदार है। वह अपने अस्तित्व के संकट का समाधान कालेज के संगठन की अतिबद्धता से विद्रोह के रूप में करता है।

समस्या का सही रूप केन कैसे के उपन्यास 'वन फ्लू ओवर ए कुकू स्टनें' में मिलता है जब उपन्यास का नायक मैक्मर्फी अस्पताल की नर्स (संगठन मनुष्य) मिस रेटशेड के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखता है। मिस रेटशेड को अस्पताल की 'बिग नर्स' के नाम से याद किया जाता है क्योंकि वह अस्पताल की ब्यूरोक्रेटिक संस्था की एक यन्त्रवत प्राणी है। मैक्मर्फी अस्पताल के सिस्टम में परिवर्तन लाना चाहता है और यह संघर्ष उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है—उसके अस्तित्व के प्रमाण का परिमाप। बिग नर्स से उसका विरोध अनिवार्य है क्योंकि बिग नर्स संगठन का प्रतीक है। मैकमर्फी में प्यार और संघर्ष में एक आशाजनक स्थिति का बोध मिलता है जो आर्वेल के विन्सटन के प्यार में नहीं। मैकमर्फी के मानसिक सुधार के लिए जो चिकित्सा प्रस्तावित की जाती है, ब्रोमडेन (उपन्यास का एक अतिसंवेदनशील पात्र) उसे सहन नहीं कर सकता क्योंकि उससे मैक्मर्फी संवेदनशून्य प्राणी की जिन्दगी बसर करने पर विवश हो जाता है। ब्रोमडेन यह बर्दाश्त नहीं कर सकता और उसकी हत्या कर देता है—उसके स्वत्व को नष्ट नहीं होने देता। ब्रोमडेन के विचार में अस्पताल (संगठन) एक मशीन है जो लघु और दुर्बल बनाने के लिए निर्मित हुई है—मनुष्य को छाया में परिवर्तित करने और उसके स्वतन्त्र विचारों को खत्म करने के लिए। जबकि ब्रोमडेन का संघर्ष है मनुष्य की रक्षा करना।

अस्तित्व के संकट की 'एब्सर्ड' स्थिति का परिचायक फ्रांज काफ्का का उपन्यास 'द कैसल' है। यह उपन्यास भयावने स्वप्न के रूप में समस्या का अस्तित्ववादी विश्लेषण है। द कैसल' का नायक दुर्ग के निकट गाँव में दुर्ग का एक पदाधिकारी है। वह अपने पद को पहचानना चाहता है लेकिन वह दुर्ग के किसी जिम्मेदार अधिकारी से नहीं मिल पाता जो उसके पद को प्रमाणित कर सके। उसके लिए यह प्रश्न इतना गम्भीर हो जाता है कि मनुष्य की हैसियत से ही अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने पद को प्रमाणित कर सके। दुर्ग में स्वीकृति ही उसके अस्तित्व की सबसे बड़ी शर्त बन जाती है। दुर्ग की अस्वीकृति का अभिप्राय है अनस्तित्व। 'क' संगठन से अलगाव को दूर करने के लिए प्यार, मित्रता और दूसरे मानवीय संबंधों को विकृत बना लेता है। मैक्स ब्राड का विचार है कि काफ्का ने उपन्यास का जो अन्त सोचा था, उसमें 'क' संघर्ष में टूट कर मर जाता है। वर्तमान स्थिति में उपन्यास का अन्त है 'क' का मानवीय संबंधों से पूर्ण अलगाव और दूरी।

यदि हम दुर्ग से 'क' संबंधों का विश्लेषण करें तो यह स्पष्ट हो जाता है

कि यद्यपि 'व' पर दुर्ग की मांग केवल व्यावसायिक है लेकिन वास्तव में यह मांग पूरे जीवन के समर्पण की है। संगठन से पूर्ण तादात्म्य की माग है। क्योंकि यह माग पूर्ण है इसलिये विकल्प या विकल्पहीन अस्तित्व की तलाश और मनुष्य की हैसियत से उसके जीवन की सार्थकता महत्वपूर्ण अस्तित्ववादी प्रश्न बन जाते हैं।

मानव संगठन को ईश्वर का दर्जा देकर उसका स्तुतिगान करने से जो स्वत्व से अलगाव की स्थिति पैदा होती है, उससे नैराश्य और अनस्तित्व के सिवा कुछ उपलब्ध नहीं। 'व' का समस्त संघर्ष इस लक्ष्य का प्रमाण है।

आधुनिक मनुष्य को कई समूहों के प्रति वफादार रहना पड़ता है और प्राय इस वफादारी में परस्पर विरोध भी होता है। इस द्वन्द्व से बचने के लिए वह किसी एक व्यापक संगठन के प्रति पूर्ण समर्पण की प्रतिज्ञा कर लेता है। लेकिन कुछ व्यक्तियों के लिए यह प्रश्न उनके अस्तित्व का संकट बन जाता है क्योंकि वे अपने प्रति, अपनी मानवता और निजी मूल्यों के प्रति आस्थावान हैं। जब भी कोई व्यक्ति किसी संगठन में अपने अस्तित्व का विलयन कर लेता है तो वह अपने स्वत्व से टूट कर अलग हो जाता है। वह एक निर्वैयक्तिक अस्तित्व के लिए अपने मानवीय अस्तित्व को नकार देता है। ऐसा आदमी ही 'संगठन मनुष्य' है।

इसी प्रकार लक्ष्मीनारायण लाल का 'मिस्टर अभिमन्यु' समकालीन परिस्थिति में प्रस्तुत एक महत्वपूर्ण नाटक है। यह नाटक एक विवेकशील आई० ए० एस० अधिकारी की कहानी है जो ईमानदारी से जीना चाहता है लेकिन व्यवस्थापन और उसके पोषक उसके ईमानदार जीवन व्यतीत करने में बाधा डालते हैं। आत्मन (आदर्श) और ययादत्त (अवसरवाद) के इस संघर्ष में वह अपनी दुर्बल संकल्प शक्ति के कारण टूट जाता है। व्यवस्था के अमानवीय चक्रव्यूह में 'एण्टी हीरो' की यही ट्रैजेडी है कि प्रतिष्ठान के सामने समर्पण के अतिरिक्त उसके लिए कोई रास्ता नहीं।

मुद्राराक्षस का नाटक 'मरजीवा' अलजरा के नाटक की परम्परा में रचित एक महत्वपूर्ण कृति है जो अन्त तक मृत्यु की छाया में ही ठिठुरी सी पलती रहती है। नाटक का नायक एक बेकार नवयुवक है जो पत्नी और बच्चे समेत आत्महत्या की योजना बनाता है। इस असफल योजना में बच्चा और पत्नी तो मर जाते हैं लेकिन वह बच जाता है और अपने आपको पुलिस के हवाले कर देता है लेकिन मृत्युदण्ड के बजाय एक स्थानीय नेता के अनुरोध पर पुलिस उसे एक राजनीतिक स्टंट में आत्मदाह के लिए प्रयोग

मे लाना चाहती है। यह एक ऐसी घटना थी जिसके विरुद्ध वह विद्रोह करता है। सपूर्ण स्थिति एक ऐसा 'डिसगस्ट' उत्पन्न करती है कि जीवन की समस्त विसगति म भी आक्रोश का स्वर उभर कर सामने आता है। मुद्राराक्षस का यह नाटक आधुनिक राजनीति और व्यवस्थापन पर एक कटु और आक्रामक आक्षेप है और हिन्दी नाटक क्षेत्र मे एक साहसपूर्ण कृति है।

हिन्दी मे व्यवस्था तन्त्र मे मनुष्यो की स्थिति को बदीउज्जमा ने अपने उपन्यास एक चूहे की मौत' मे एक फेण्टेसी के रूप मे प्रस्तुत किया है। चूहो, चूहेमारा और चूहेखाने के प्रतीको द्वारा लेखक ने व्यवस्था के यन्त्र मे दम तोडते हुए मानव की स्थिति को कुछ ऐसे अदाज से पेश किया है कि जिसमे नौकरशाही की अमानवीकरण की दुनिया पूरी तरह उजागर हो जाती है। इस भयावह प्रक्रिया का मुकाबला विद्रोह के बिना सभव नही वरना इसका अजाम एक चूहे की मौत की भाँति ही हो सकता है। लेखक ने इस प्रक्रिया को उपन्यास के शुरू मे ही प्रस्तुत कर दिया है–वह एक छोटा चूहेमार था–तीसरे दर्जे का। एक लम्बी सुरग थी जो दिन भर अनगिनत चूहे उसके सामने उगलती रहती थी। वह एक-एक करके इन चूहो को मारता।' यह एक 'एब्सर्ड' व्यापक तत्र के क्रूर और अमानुषिक व्यापारो की कहानी है जिससे चित्रकार 'ग' विद्रोह करता है और चूहेखाने के इस घातक तन्त्र से बाहर निकल आता है लेकिन उसका उसे मूल्य चुकाना पडता है—आत्महत्या। जबकि उपन्यास का 'वह' चूहो के सम्पर्क म मनुष्य से चूहेमार और फिर स्वय ही एक चूहा बन गया है। व्यवस्था म व्यवस्था के अनुरूप बन जाने की यह करुण कहानी है—उपन्यास पर काफ्काई रग की झलक स्पष्ट मिलती है। 'ग' जो व्यवस्था को चुनौती देता है, उसकी भविष्यवाणी सही सिद्ध होती है कि 'तुम सब चूहे मारते-मारते खुद भी चूहे बन गए हो।'' लेकिन इस चूहेखाने मे चूहे की मौत मरने से इसके तन्त्र से विद्रोह एव सघर्ष मे मृत्यु म ही 'त' 'ग' और 'वह' के अस्तित्व की सार्थकता एव प्रामाणिकता/ है जिसको लेखक ने उपन्यास के अन्त म इस प्रकार प्रस्तुत किया है 'फिर एक जमाट की आवाज के साथ उसने महसूस किया कि शोलो ने उसे चारो ओर से घेर लिया है। शोलो की सुर्ख धधकती जबान उसके शरीर को चाट रही है। लेकिन इस घोर यन्त्रणा के बीच भी उसे महसूस हुआ जैसे सदियो से जमी हुई मैल उसके मन और शरीर से उतरती चली जा रही है और अब वह अपनी आत्मा को देख सकता है जो आईने की तरह स्वच्छ और निर्मल है।' विद्रोह मानव मुक्ति की अनिवार्य शर्त है।

जगदम्बाप्रसाद दीक्षित ने 'मुरदाघर' मे व्यवस्था के दैत्य का साक्षात्कार एक सजग लेखक के रूप म किया है। स्वय लेखक ने अपने उपन्यास के सबध मे लिखा है .

> "तीसरी चीज है मौजूदा राज्य-यत्र । मेरी समझ से यह हमारी आज की जिंदगी का सबसे बुनियादी सवाल है । हमारा मौजूदा राज्य-यत्र महज भ्रष्ट या 'करप्ट' नहीं है बल्कि वह मूलत. जन विरोधी और उत्पीडक है । उसका निर्माण ही इसी काम के लिए किया गया था, राज्य-यत्र के इस स्वरूप को सामने रखना 'मुरदा-घर' का एक खास उद्देश्य है । मेरी समझ से 'एक्सपोज' करने का काम आने वाले क्रांतिकारी लेखन का एक महत्वपूर्ण काम होगा । 'मुरदा-घर' मे राज्य यत्र के सही रूप को उभारने की कोशिश की गई है । मुझे इस बात पर कुछ ताज्जुब होता है कि राजनीतिक पार्टिया और जयप्रकाश नारायण जैसे प्रबुद्ध नेता सिर्फ आधा सवाल उठाने की कोशिश करते हैं और उसके बुनियादी रूप पर खामोशी साध लेते हैं । राज्य-यत्र मे करप्शन' का होना बुनियादी समस्या नहीं है, एक जन-विरोधी उत्पीडक राज्य यत्र का होना बुनियादी समस्या है । क्या आप मौजूदा राज्य-यत्र को कायम रखकर करप्शन' से छुटकारा पाना चाहते हैं ! आप ऐसा समझते हैं तो यह एक बुनियादी गलती है । 'मुरदा घर' अपनी सीमाओ के बावजूद मौजूदा राज्य-यत्र को पूरी तरह ध्वस्त करने की जरूरत की ओर सकेत करता है ।'

अतिसगठन के विरुद्ध आधुनिक मनुष्य की लडाई मे राजनीतिक क्रातिकारियो की विद्रोहपूर्ण गरिमा शायद न मिल लेकिन यह सघर्ष कम महत्वपूर्ण नही । यह सघर्ष मनुष्य को प्रतिदिन प्रतिक्षण जारी रखना पडता है—अपने परिवार म, अपनी आत्मा मे—सगठन की पूर्ण वफादारी की माग का प्रतिरोध करने के लिए और भौतिक प्रलोभनो का परित्याग करने के लिए । यह सघर्ष नया नही लेकिन बडे-बडे व्यापक सगठनों मे शक्ति और सत्ता के केन्द्रित होने के कारण इसको नया परिप्रेक्ष्य अवश्य मिला है । प्रत्येक मनुष्य को अपने अस्तित्व को विघटन से बचाने के लिए मूल्य चुकाना है और सगठन की अति-शक्ति और व्यापक प्रणाली का प्रतिरोध ही सबसे बडा मूल्य है क्योकि यह बात सिद्ध है कि कोई भी मनुष्य अपने आपको मनुष्यत्व के गुण से पृथक किये बगैर सगठन से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित नही कर सकता जबकि विकल्प स्वतन्त्रता ही मनुष्य की अस्तित्ववादी नियति है ।△

सेक्स, सिनेमा और सेन्सरशिप

न्यूयार्क के लोअर ईस्ट साइड थियेटर मे प्रदर्शित नाटक 'चे' मे भाग लेने वाले सभी व्यक्तियो—निर्माता, निर्देशक, अभिनेता आदि को पुलिस ने गिरफ्तार कर लिया क्योकि नाटक मे 'हर प्रकार की यौन क्रिया का नग्न प्रदर्शन किया गया है। 'और बडे भद्दे ढग से' अश्लीलता, स्वच्छन्द कामुकता और समलैंगिक-सम्बन्धो को रगमच पर प्रस्तुत किया गया है।

इसी देश के एक और नगर मियामी म करीब ३,००० क्रुद्ध नवयुवको और नवयुवतियो ने एक विराट 'शिष्टता प्रदर्शन' किया। उनका नारा था—डाउन विद आब्सीनिटी। (अश्लीलता को खत्म करो।)

सेक्स के विषय को रगमच, सिनेमा और दूरदर्शन द्वारा स्पष्ट, खुले और नग्न एव कामुक तरीके से प्रस्तुत करने के विरुद्ध एक कार्यवाही अधिकारी वर्ग ने की और दूसरी कार्यवाही की जनता के नवयुवक वर्ग ने। लेकिन इस नाटक मे एक तीसरा पक्ष भी है—निर्माता, लेखक और निर्देशक का पक्ष जो सेक्स के विषय को अपनी बुद्धि, कल्पना और विवेक के अनुकूल प्रस्तुत करने की स्वतन्त्रता का 'मौलिक अधिकार' चाहता है।

इन दिनो अमरीका, इंग्लैंड, स्वीडन डेनमार्क, फ्रास, इटली और जापान मे चलचित्रों और रगमच पर प्रदर्शित होने वाले नाटको मे सेक्स की उन्मुक्त अभिव्यक्ति' और 'नग्न शरीर के स्वच्छन्द प्रदर्शन' की एक नयी लहर आ गयी है।

इस 'नयी लहर' के कारण फिल्म निर्माताओं और नाटककारों और सरकार के कानून और सेन्सरशिप में तनाव और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गयी है। एक ओर सेक्स के उन्मुक्त और विकृत सम्बन्धों के स्वच्छन्द प्रदर्शन की पूर्ण स्वतन्त्रता की माग है तो दूसरी ओर सेन्सर की कैंची की धार को और अधिक तेज और सक्रिय करने का प्रस्ताव है। भारत में भी सिनेमा और सेन्सर के द्वन्द्व का इतिहास नया नहीं। ये प्रश्न प्रत्येक देश में समय-समय पर उठाये जाते रहे हैं—क्या फिल्मों या नाटकों को सेन्सर करना आवश्यक है ? यदि यह आवश्यक है तो इसकी सीमाएं क्या हैं ? इसके नियम और सिद्धान्त क्या है ? किन-किन विषयों और दृश्यों पर सेन्सर की कैंची चलायी जा सकती है ? सेन्सर समिति के सदस्यों की योग्यता क्या हो ताकि व अपने अधिकारों का दुरुपयोग न कर सकें और इसके साथ ही वे कला और समाज के बदलते हुए मूल्यों से भी न्याय कर सकें। क्या सेन्सर ऐच्छिक भी हो सकता है और यह विश्वसनीय भी होगा या नहीं। क्या फिल्म का पूर्व सेन्सर भी सम्भव है ताकि फिल्म में लगायी गयी पूंजी नष्ट न हो। *ये और इसी प्रकार के दूसरे प्रश्न हैं जिनका उत्तर देने की बार-बार* कोशिश की गयी है। खोसला समिति की जांच रिपोर्ट में भी इन प्रश्नों पर विचार किया गया है। समिति ने जहां सेन्सर की अनिवार्यता पर बल दिया है वहां इसको उदार बनाने का सुझाव भी दिया है। इस रिपोर्ट का एक महत्वपूर्ण प्रस्ताव है, "किसी भी फिल्म को सम्पूर्णतया देखना चाहिए। इसका मूल्यांकन कला या मनोरंजन की एक अखण्ड कृति के रूप में होना चाहिए। यदि कथानक के प्रतिपादन में अनुरागपूर्ण चुम्बन या नग्न मानव शरीर का प्रदर्शन तर्क-संगत, प्रासंगिक और आवश्यक है तो उस दृश्य को काटने का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिए। शर्त यह है कि विषय का प्रतिपादन सूक्ष्मता और सहानुभूतिपूर्वक किया गया हो जिसका उद्देश्य सौन्दर्य की अभिव्यक्ति है जो अनावश्यक कामुकता और वासनापूर्ण समस्त संकेतों से दूर है।

स्पष्ट है कि भारत में सेन्सरशिप के नियमों में यह नयी दृष्टि उन प्रतिबन्धों के अन्तर्गत ही इस्तेमाल हो सकती है जिन्हें सर्वोच्च न्यायालय ने 'अशिष्टता और अनैतिकता' के सन्दर्भ में निर्धारित कर रखा है और जिनका उल्लेख खोसला समिति की रिपोर्ट में किया गया है। देखना यह है कि हमारे फिल्म निर्माता इस सुझाव को व्यवहार में कैसे लाते हैं। क्या वे इस *शिथिलता का प्रयोग फिल्मों को अधिक से अधिक 'लोकप्रिय' बनाने और*

धन कमाने के लिए करते हैं और पहले से अधिक कामुक दृश्य और अर्धनग्न (अथवा नग्न शरीर) और अंग प्रदर्शन द्वारा कामोद्दीपन की मनस्थिति उत्पन्न करते हैं या वे मानव के गहनतम मानस और अवचेतन की गुफाओं में गहरे झांक कर मनुष्य की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश करते हैं और सामाजिक विषमताओं का सच्चा चित्रण कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। संसार के दूसरे देशों में जहां सेन्सर के नियम इतने कठोर नहीं या जहां सेन्सर को खत्म कर दिया है, ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियां नजर आती हैं—वासनापूर्ण कामोद्दीपन, नग्न, अर्थहीन, यौन क्रियाओं अथवा सम्बन्धों का खुला प्रदर्शन जिनका उद्देश्य ही सेक्स अपील' है और दूसरी ओर वे फिल्में हैं जो इस शिथिलता का उपयोग मनुष्य की गहनतम अंतरात्मा में झांक कर मनुष्य के सम्बन्धों को नये अर्थपूर्ण कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करती हैं।

प्रसिद्ध फिल्म निर्माता बी आर. चोपड़ा ने प्रश्न का सामने से मुकाबला करते हुए कहा है हमारी फिल्में दृश्य सम्मोहन का साधन बन गयी हैं। हम अपने दर्शकों को एक निकृष्टतम धोखे का निरन्तर शिकार बनाने में लगे हुए हैं। मेरे लिए अपनी फिल्मों में नायिका को निर्वस्त्र करके नग्न प्रस्तुत करने की अपेक्षा यह अधिक स्वाभाविक और सहज है कि मैं एक विषय प्रधान प्रामाणिक फिल्म बनाऊं। एक प्रबुद्ध और विवेकशील निर्माता का यही सही दृष्टिकोण है जो उसे कलात्मक और अर्थपूर्ण फिल्म बनाने की प्रेरणा देता है और वह दर्शकों के सस्ते मनोरंजन के लिए कामोद्दीपक दृश्यों और नग्न नृत्यों या कामनायुक्त चुम्बन का सहारा नहीं लेता। वह प्रामाणिक और अर्थपूर्ण अनुभवों को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश करता है। प्रसिद्ध फिल्म 'रोमियो जूलियट' के विश्व विख्यात निर्देशक फ्रांको जेफरेली के सम्मुख भी यही प्रश्न था। उसने इटली की तथाकथित प्रणय फिल्मों की सस्ती कामुकता और उत्तेजक वासनायुक्त प्रवृत्ति का प्रबुद्ध विवेकशील कलाकार की हैसियत से विरोध किया। उसने सेक्स और प्रणय के प्रामाणिक और सूक्ष्म अनुभव को नये और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के नये प्रयोग किये हैं। लेकिन उसके विचार सौन्दर्य और स्वतन्त्रता की ओट में सेक्स के स्वच्छन्द प्रदर्शन में विश्वास रखने वाले निर्माताओं से अलग हैं। वह उनकी सेक्स प्रवृत्ति से रोग की हद तक ग्रस्त होने के विरुद्ध है। इसीलिए ऐसे निर्माताओं ने उसकी खूब निन्दा की है और लेखक की स्वतन्त्रता का नारा लगाते हुए उन्हें फिल्म गिल्ड संघ से बाहर निकाल दिया है। क्योंकि वे सेक्स

की प्रगय परिगनि मे और उसकी सौन्दर्य अभिव्यक्ति मे विश्वास नहीं रखते एव सेक्स को मनोरजन और धनोपार्जन का साधन ही समझते हैं।

जेफरेली के विचार मे सेंसरशिप से पूर्ण स्वतन्त्रता की मांग वास्तव मे नात्सी दमन की एक प्रतिक्रिया है। (कहीं यही बात भारत के फिल्म निर्माताओ के लिए भी तो सही नहीं कि अग्रेजी साम्राज्य और आपातकाल म दमन की प्रतिक्रिया के रूप मे सेक्स की उन्मुक्त अभिव्यक्ति की माग की जा रही है और देश की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओ से पलायन करने के लिए झूठे तर्क पेश किये जा रहे हैं)। जेफरेली ने कहा है कि समस्या यह है कि अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाय। कला को कायम रखा जाये और भद्दी कामुकता को खत्म किया जाये—'मैं हर प्रकार की सेंसरशिप के विरुद्ध हूँ। लेकिन फिल्म उद्योग मे ऐच्छिक सेंसरशिप आवश्यक है।'

अमरीका की एक पत्रिका 'मोशन पिक्चर हैरल्ड' ने अपने एक सम्पादकीय—नियन्त्रण से बाहर—में लिखा है कि स्वतन्त्र और बडी नियन्त्रित फिल्मे दोनो ही अधिक साहसी हो गयी हैं। अब और अधिक साहस दिखाने के लिए कुछ नहीं रह गया। अब एक विवेकहीन होड जारी है कि कौन-सी फिल्म अश्लीलता, अशिष्टता और कामुकता का नया सीमा-स्तम्भ स्थापित करती है।

लेकिन अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता की माग करने वाले इस तर्क को नहीं मानते। उनके विचार मे फोटोग्राफी उन पिछड़े हुए विकृत और ढोगी विचारो से हर हालत मे बेहतर है जिनका प्रचार सेंसर और नैतिकतावादी सेक्स के विषय मे अक्सर करते रहते हैं। शायद इनका सकेत उस मनोवृत्ति की ओर है जो समाज मे तो हर प्रकार की विषमता, चरित्रहीनता और विकृति को सहन कर लेती है, लेकिन फिल्म के पोस्टरों और विज्ञापनो म किसी अभिनेत्री के उभरे हुए उरोज पर काली स्याही पोत कर और 'शो-विन्डोज' में प्रदर्शित प्रतिमाओ के वक्षस्थल पर सुसज्जित अगिया के विरुद्ध प्रदर्शन करके अपनी 'नैतिकता' का प्रदर्शन करती है।

हालात तेजी से बदल रहे हैं। रगमच, साहित्य और सिनेमा मे सेक्स के विषय को प्रस्तुत करने में अधिक स्वतन्त्रता की माग की जा रही है। फिल्म उद्योग के सर्वाधिक युवक निर्माता पीटर स्नेन ने यह मत प्रकट किया

है कि फिल्मो मे नग्नता और सभोग का प्रदर्शन किया जाना चाहिए। उन्होंने कहा कि जनता यही देखना चाहती है और सिनेमा का काम भी यही है। फिल्मो को यह न बताकर कि जनता कैसी हो, यह बताना चाहिए कि यह कैसी है। स्नेल का विश्वास है कि सिनेमा के प्रेम प्रदर्शन के दृश्यो में सम्भोग भी दिखाया जाना चाहिए जो कि प्रेम की चरम परिणति है तथा जहाँ महान भावनात्मक अनुभव है, वहाँ यह आमोद भी प्रदान करेगा।

सेक्स और नैतिक मूल्यो म जो क्रांति समाज मे आयी है, उसकी झलक हमे आधुनिक साहित्य, नाटक और फिल्म मे मिलती है। अमरीका मे यह क्रान्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँची नजर आती है जहाँ फिल्मो मे नग्न नितम्बो और वक्षस्थल को बिना किसी सकोच के प्रदर्शित किया जाता है। स्वाग या सकेतपूर्ण सभोग के लगभग समस्त आसनो और प्रणय मुद्राओ और और यौन-विकृतियो के विभिन्न रूपो, समलैंगिक सम्बन्धो, बलात्कार, फुसलाने, सेक्स हिंसा और परोत्पीडक दृश्य और कामोन्मत्तता, आमोद और अपराध का चित्रण एक साधारण बात हो गयी है। सेक्स का चित्रण उन्मुक्त और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से किया जाता है। जापान मे सस्ते मनोरजन के लिए सेक्स फिल्मो की बाढ-सी आ गयी है। वास्तव मे यह परिवर्तन किसी कलादर्शन का नतीजा नही बल्कि व्यापारिक क्रिया है। छोटे निर्माता बडे निर्माताओ के मुकाबले मे शीघ्र सफल होने और धन कमाने के लिए यह सब कुछ कर रहे हैं। इसे 'प्रयोगवादी सिनेमा', 'अण्डरग्राउण्ड सिनेमा' या 'सिनेमा वेरिटी' का छद्म नाम दिया गया है। और एक प्रकार से यह सिद्ध करने की कोशिश की जा रही है कि असली क्रान्ति विस्तर पर ही सम्भव है और तमाम प्रयोग विस्तर पर ही होते है। कुछ लोग इस नग्नतावादी सिनेमा और नाटक को एक महान सास्कृतिक क्रान्ति की भूमिका स्वीकार करते हैं। 'आई एम क्यूरियस (यैलो)', 'आई एम क्यूरियस (ब्लू)', 'हेयर', 'द किलर आव सिस्टर जार्ज', 'फ्रैंकस्टीन', 'चे' और' ओ कलकत्ता' ऐसे ही नाटक एव चलचित्र है जिन्हे सास्कृतिक क्रान्ति के दायरे मे शामिल किया गया है।

इसमे सन्देह नही कि इन कृतियो मे अधिकतर कलात्मक दृष्टि का सबूत दिया गया है। यदि इनका कोई महत्व है तो, 'सेक्स और नग्नता' के कारण नही बल्कि विषय की व्यापकता, गहनता और सूक्ष्मता के कारण है। 'चे' के बारे मे कहा गया है कि यह अमरीका और ससार के क्रान्तिकारी आन्दोलन के सघर्ष की सच्ची तस्वीर है। इसका नायक प्रसिद्ध गेरिल्ला क्रान्तिकारी 'चे ग्वेरा' है। 'ओ कलकत्ता' के बारे मे स्वय कैनेथ टाइनन ने कहा है कि

इसमें सेक्स द्वारा आनद की तलाश की गयी है, 'मैं काम के क्षेत्र मे सुरुचि-पूर्ण ढग से केवल मनोरजन प्रस्तुत करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।'

आखिर प्रश्न भी तो यही है कि सेक्स के द्वारा आनद और मनोरजन की सरुचिपूर्ण परिभाषा क्या है ?

सेक्स और सास्कृतिक क्रान्ति प्रामाणिकता और आधुनिकता और सत्यता एव सौन्दर्यानुभूति के पीछे कही ब्लू फिल्मो वाली मनोरजन की प्रवृत्ति तो काम नही कर रही ? लेकिन इन कृतिया के निर्माताओ का कथन है कि यह दृष्टि और प्रस्तुतीकरण का अन्तर है जो इन्ह साधारण सेक्स फिल्मो से अलग करता है। और ऐसी फिल्मो पर प्रतिबन्ध लगाना एक महान 'सास्कृतिक ट्रेजेडी' होगी।

सिनेमा म सेक्स और सेंसरशिप की समस्त समस्या पर सूक्ष्मता और विवेकशीलता से विचार करने की आवश्यकता है। सेक्स मनुष्य की प्रबल नैसर्गिक प्रवृत्ति है। इसका दमन न केवल अप्राकृतिक है बल्कि व्यक्ति और समाज के लिए हानिकारक भी है। साहित्य और कलाकृतियो म सेक्स के विषय पर प्रतिबन्ध लगाना जीवन की मूल प्रतिक्रियाओ के चित्रण पर प्रतिबन्ध लगाना है। इसमें सन्देह नही कि ऐसी कलाकृतिया समाज मे सेफ्टी वाल्व' का काम करती हैं और रुग्ण एव विकृत अभिव्यक्ति को रोकती हैं।

सेंसरशिप के विरुद्ध प्रचार का भी अधिकतर कारण है कि सेंसर सक्स के विषय पर प्रतिबन्ध लगाकर कृत्रिम जीवन और रूढिग्रस्त मूल्यो और दकियानूसी विचारो की ही पुष्टि करता है। अत सेसरशिप को बिलकुल खत्म कर देना चहिए—यौन क्रान्ति एक हकीकत है। सेंसरशिप अपने सिद्धान्तो मे प्रकृति के विरुद्ध है और अपने प्रभाव म कला के विरुद्ध। जब जीवन पर कोई प्रतिबन्ध सम्भव नही तो फिर कला पर क्यो कोई प्रतिबन्ध लगाया जाये। सेंसरशिप को खत्म कर देना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो सेंसरज को भी ?' यह है वह आवाज जो दिन प्रतिदिन प्रबल होती जा रही है।

लेकिन क्या सेंसरशिप को खत्म करने से समस्या का हल हो जायेगा ? प्रश्न सेंसरशिप को बिलकुल खत्म कर देने का नही बल्कि प्रौढ, प्रबुद्ध, विचार-युक्त, विवेकशील और कलाविज्ञ सेंसर स्थापित करने का है जो अक्सर हिन्दी फिल्मो की 'मिथ्या योन-क्रान्ति' के बजाय समस्त सास्कृतिक क्रान्ति के विराट परिवेश म, जीवन की व्यापार-परिधि म सेक्स का सही स्थान निश्चित कर सके और उसका सशक्त, स्वस्थ और सुन्दर चित्रण कर सके। △

विचार विस्फोट : सृजनात्मक अभिव्यक्ति

"मेरे पिता ने कहा था :
जब हाथ से कलम छीन लिया जाता है
या खुद हाथ ही कलम कर दिया जाता है
और शब्द को परखने का अधिकार
सिर्फ सिपाही के लिए सुरक्षित कर लिया जाता है
तब जुबान ही नहीं
समूचे जिस्म का रोम-रोम बोलता है
खौलता हुआ खून
बन जाता है रोशनाई
और कटे हुए हाथ का कसमसाता हुआ ठूँठ कलम
और तब इबारत को कागज पर नहीं
सीधे दिलों पर लिखना होता है मेरे बच्चे ।
यह मैंने नहीं
मेरे पिता ने कहा था ।"

रमेश गौड़

गौरिल्ला टेलिविज़न
तकनीकी चमत्कार या विद्रोही विचार

लोग पूरी तन्मयता से टेलिविज़न देख रहे थे। एकाएक शोर हुआ और लोगों ने देखा कि स्टूडियो में उथल-पुथल मच गई। बीस-पचीस हिप्पियों ने कार्यक्रम को भंग कर दिया और व्यवस्था के विरुद्ध नारे लगाने शुरू कर दिए-'टेलिविजन व्यवस्था के झूठ-प्रसारण का माध्यम है-टी. वी. स्वतन्त्र है।' दूसरे दिन न्यूयार्क टाइम्स और अन्य बड़े-बड़े समाचार पत्रों में सुर्खी थी—बीस हिप्पियों ने टेलिविजन स्टेशन पर हल्ला बोल दिया और अश्लीलता का खुले आम प्रचार शुरू कर दिया।

यह घटना १९६८ की है। इसी वर्ष जापान की सोनी कम्पनी के द्वारा अमरीका में पोर्टपैक (पोर्टेबल विडियो कैसेट कैमरा और विडियो प्लेयर) बेचना शुरू हुआ। विचार क्रान्ति को जब तकनीकी क्रान्ति का सहारा प्राप्त हुआ तो गौरिल्ला टेलिविजन का स्वप्न साकार हो उठा।

१९६८ एक क्रान्तिपूर्ण वर्ष था। पेरिस में युवा वर्ग का व्यवस्था विरोधी विद्रोह। शिकागो में डेमोक्रेटिक पार्टी के सम्मेलन में वियेतनाम युद्ध विरोधी प्रदर्शन। कार्नेल विश्वविद्यालय पर अश्वेत छात्रों का कब्जा। अहिंसावादी मार्टिन लूथर किंग की हत्या और न्यूयार्क के डब्ल्यू एन डी टी स्टेशन पर मैले कुचैले वस्त्र और मनकों की मालाएं पहने अश्लील शब्दों का प्रयोग करते हिप्पियों का हमला। जब उनसे पूछा गया कि वे क्या चाहते हैं तो एक हिप्पी ने उत्तर दिया कि हम लोगों को अमरीका का असली चेहरा दिखाना चाहते हैं।

इसी वर्ष जापान की सोनी कम्पनी द्वारा अमरीका में एक कम कीमत का पूर्णतया पोर्टेबल विडियो कैमरा (पोर्टपैक) आया। गौरिल्ला टेलिविजन की नीति गैरिल्ला युद्ध की रणनीति और व्यूह कौशल पर आधारित है। पूंजीवादी नौकरशाही और युद्ध मे केन्द्रीय मुख्यालय होते हैं। ब्रॉडकास्ट टेलिविजन मे भी केन्द्रीय स्टूडियो होते है। फिल्मो के लिए केन्द्रीय प्रोसेस यूनिट' होते हैं। लेकिन गौरिल्ला टेलिविजन का न तो कोई केन्द्रीय स्टूडियो होता है और न ही प्रोसेसिंग यूनिट'। गलियो सडको चौराहो, पार्को स्कूलो कालेजो और सुपर मार्केट जहाँ भी लोग हैं उनका कैमरा पहुँच जाता है। प्रत्येक स्थान उनका स्टूडियो है। इधर विडियो कैमरा शूट' कर रहा है और उधर उसी समय टेलिस्क्रीन पर वही सब कुछ प्रदर्शित भी हो रहा है। 'शूट' शब्द मैंने अपनी सुविधा के लिए इस्तेमाल किया है वरना गौरिल्ली टी वी शब्दावली म यह शब्द ब्राडकास्ट• टेलिविजन के लिए ही तिरस्कारपूर्वक इस्तेमाल होता है। गौरिल्ला टी वी ने ब्राडकास्ट टी वी के एकाधिकार को चुनौती दी है। इसने टी वी के महत्व को समझा है। अनुमान है कि १८ वर्ष की आयु से पूर्व अमरीकी बच्चे लगभग २२,००० घण्टे का टी वी कार्यक्रम देख चुके होते है। ब्राडकास्ट टी वी अपने व्यापारिक लाभ और निहित स्वार्थो के लिए टी वी का सचालन करता है। शैक्षिक टी वी (ई टी वी) इसका प्रयोग तथाकथित जनहित के लिए करता है जबकि गौरिल्ला टी वी का ध्येय है, ब्राडकास्ट टी वी के सशक्त माध्यम पर कब्जा करके पूंजीवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए जनता की राजनैतिक चेतना को प्रखर करना।

१९७१ मे यिपि जेरी रुबेन को इगलैण्ड के विख्यात टी वी शोमैन डेविड फ्रास्ट ने अपने एक शो म बुलाया। दर्शको मे रुबेन के अनुयायी भी बैठे थे-- जब शो शुरू हुआ तो रुबेन ने इन सब को रगमच पर बुला लिया। उनके पास पोर्टपैक था और वे इसे हर तरफ घुमाने लगे और टी वी. स्क्रीन पर हिप्पियो की यलगार के दृश्य नजर आने लगे। इस प्रकार उन्होने फ्रास्ट के लोकप्रिय शो द्वारा अपने विचारो का प्रचार किया।

लेकिन अमरीका मे इस समय एक दूसरे प्रकार के गौरिल्ला टेलिविजन का प्रचार अधिक हो रहा है। इस टेलिविजन को गौरिल्ला युद्ध टेलिविजन की सज्ञा नही दी गई, क्योकि यह युद्ध या हिंसा को स्वीकार नही करता। इसके प्रवर्तक तो यहाँ तक कहते है कि गौरिल्ला टेलिविजन राजनैतिक बिल्कुल नही। इसका उद्देश्य राजनैतिक या समाज को राजनीति-विषयक बनाना नही

क्योंकि आज हर प्रकार की राजनीति अप्रासंगिक और अविश्वसनीय हो गई है, चाहे वह दक्षिणपंथी हो या वामपंथी। गौरिल्ला टेलिविजन परिवर्तन के लिए मात्र समान्तर कार्यक्रम ही नहीं बल्कि पूर्ण समान्तर प्रसारण सिस्टम है। यह सम्पूर्ण प्रतिकूल प्रविधि है।

गौरिल्ला टेलिविजन ने सूचना-समाचार को बिल्कुल ही नई दृष्टि से प्रस्तुत किया है। इनके विचार मे सूचना-समाचार कोई निर्मित वस्तु नहीं बल्कि निरन्तर प्रक्रिया है—एक अविरल प्रवाह। सन्दर्भ हैं लोग और लोग ही सूचना समाचार हैं। समाचार शक्ति है। इसलिये हम पर किसी व्यक्ति, वर्ग या समूह का आधिपत्य सहन नहीं किया जा सकता। यह किसी की भी निजी सम्पत्ति नहीं। इस पर सब लोगों का समानाधिकार है। 'एयरवेब्ज' पर जनता का अधिकार है। प्रश्न रियायत का नहीं। प्रश्न अधिकार का है। प्रश्न महज प्रसारण का नहीं। अधिकार के प्रयोग करने के अधिकार का है। ब्राडकास्ट टी वी का कैमरा एक हेलिकाप्टर की तरह जनता के सिरों के ऊपर मंडराता है। इसका संचालन सी बी सी एन बी सी और ए बी सी (अमरीकी टी वी नेटवर्क) के विज्ञापनदाता और मोटी-मोटी तनख्वाह पाने वाले व्यवसायी छायाकार करते हैं। वे अपने कैमरे को जनता से दूर रखते है। गौरिल्ला टी वी का कार्यक्रम जनता का, जनता द्वारा, जनता के लिए ही होता है। टी वी के उपकरण आम जनता को उपलब्ध हो, यह गौरिल्ला टी वी का लक्ष्य है। केवल टी वी के माध्यम द्वारा आज ४० चेनल्स सभव हैं। इनमे से एक चेनल टी वी नेटवर्क को, एक राज्य को और एक विज्ञापन कम्पनियो को दे दी जाये और शेष सभी चेनल्स पर जनता का अधिकार होना चाहिए। टी वी चेनल्स और पूंजीपतियो के स्वामित्व को समाप्त करने के लिए आवश्यक है कि इनका विकेन्द्रीकरण किया जाये। जिन्हें समाचार एकत्रित और प्रकाशित करने का कानून द्वारा अधिकार दिया गया है, वे छद्म घटनाओ, भ्रष्ट नेताओ, समृद्ध वर्गों और शक्तिसम्पन्न नौकरशाहों की गतिविधियों, भाषणो और वक्तव्यो को ही समाचार समझते हैं। गौरिल्ला टेलिविजन इसका विरोध करता है। यह सामान्य लोगों की रोजमर्रा जिन्दगी और कशमकश, उनके सोच-विचार, रहन-सहन और व्यवहार-सम्बन्धो को प्रदर्शित करता है। गौरिल्ला टेलिविजन वास्तव मे जनता का सतर्कता ब्यूरो है।

यह ब्यूरो उन लोगो की गतिविधि का रिकार्ड तैयार करता है जो जनता की मुखबिरी करते हैं। जब पुलिस द्वारा जनता का दमन होता है,

उन पर अश्रु गैस छोडी जाती है या बेनचार्ज होता है या गोली चलाई जाती है तो गौरिल्ला टेलिविजन या केमरा जनता के बीच घूमता है और प्राय उन्ही हाथो मे रहता है। जब कानल विश्वविद्यालय मे अराजकतावादी छात्र सगठन द्वारा १९६८ मे पेरिस के युवा विद्रोह की डाक्यूमेण्टरी दिखाई गई तो मैंने इस सगठन के एक सदस्य रुडी पीरेन से पूछा कि यह दस्तावेज कैसे तैयार की गई। 'इसकी एक लम्बी कहानी है,' उसने कहा 'पुलिस ने हमारे कैमरे छीन लिये। उन्हे तोड डाला। हमारी कई फिल्म नष्ट हो गई। काश हम लोगो के पास उस समय पोर्टापैक होता।'

जो लोग समाचार सचार पर नियत्रण रखते हैं, उनके विचार मे पोर्टा-पैक एक घटिया तस्वीर है। लेकिन वास्तव म विडियो कैसेट के सग्रह और तात्कालिक प्लेबैक ने इस धारणा का खडन कर दिया है कि केवल तकनीकी तौर पर प्रशिक्षित कुछ लोग ही टेलिविजन का सचालन कर सकते हैं। दो हजार डालर की कीमत पर उपलब्ध विडियो कैमरे और प्ले बैक के पूरे साजसामान ने सामान्य लोगो के हाथा म इतनी शक्ति दे दी है कि वे जन प्रसारण के एकाधिकार को तोडने म समर्थ हो गये। ३० मिनट के आधा इच कैसेट का मूल्य प्राय १२ से १८ डालर होता है जबकि सुपर ८ फिल्म का मूल्य लगभग ६५-७० डालर और १६ एम एम का मूल्य ११०-१२० डालर है। इससे पूर्व दूरदर्शन के लिए फिल्मे तैयार करने के लिए जिस प्रकार के साज सामान की आवश्यकता होनी थी, उसका मूल्य ही न केवल कई हजार डालर है, बल्कि उसका वजन भी कई सौ पौड है। इन फिल्मो को शुरू करने के लिए विद्युत शक्ति की अलग लाइन चाहिए। विडिया कैमरे की बैटरी को रिचार्ज करने के लिए किसी भी मकान का सामान्य करेण्ट ही पर्याप्त है। होडा मोटर साइकिल की बैटरी से भी यह काम लिया जा सकता है। कितनी सुविधा हो गई कि मोटर साइकिल के पीछे आपका पूरा पोर्टापैक है और उसकी बैटरी द्वारा २१ पाउड का आपका विडियो सिस्टम चलने लगता है। अब किसी बाह्य विद्युत शक्ति की जरूरत नही रह गई। न ही भारी कैमरे की और न ही तकनीकी विशेषज्ञो या कुलियो की। आप सडको और पार्को में अकेले निकल पडिये। अपने कैमरे के छोटे-से टी. वी स्क्रीन मे दखिये और बटन दबा दीजिये। जो कुछ इस स्क्रीन म दिखाई दे रहा है, सब रिकार्ड हो रहा है। जो कुछ रिकार्ड हो रहा है, वह आपके टी वी स्क्रीन पर प्रदर्शित भी हो रहा है। फिल्मो की तरह किसी रासायनिक प्रोसेस की जरूरत नही। किसी प्रयोगशाला की आवश्यकता नही। कोई लम्बी प्रतीक्षा नही। यह है

इसटेण्ट फीडबैक। जितनी बार चाहिए, कैसेट को रिप्ले कीजिए। एक कैसेट को कई हजार बार रिप्ले किया जा सकता है। इसी कैसेट पर दोबारा रिकार्डिंग करने पर पहली रिकार्डिंग स्वय ही मिट जाती है-एनपैक इनस्प विडियो म तो टू-ट्रैक स्टीरियो ध्वनि का प्रबन्ध भी है। यदि कोई सावधानी बरतने की जरूरत है तो यही कि कैमरे के लैंस को सूरज या किसी तेज रोशनी के सामने न लायें। इससे टेप पर जलने का निशान बन जाता है जो दूर नहीं हो सकता।

कई लोग मिलकर गौरिल्ला टी वी के कार्यक्रम देख सकते हैं। किसी भवन पर एक मास्टर एण्टीना को क्लेवेक सिस्टम से हुकअप करने से उस चैनल पर देखा जा सकता है जिसका प्रयोग नहीं हो रहा। मुहल्लों मे प्राय मास्टर एण्टिना की सुविधा उपलब्ध होती है जिसका प्रयोग गौरिल्ला कार्यक्रम के लिए किया जा रहा है। गौरिल्ला टी वी "मीडिया बस' द्वारा भी चलते-फिरते टी वी कार्यक्रम शहरो कस्बो और गावो मे दिखाये जाते हैं। इसी प्रकार समय समय पर विडियो समारोह किये जाते हैं जिनमे गौरिल्ला टी वी के छोटे बडे दल भाग लेते हैं। वे एक ऐसा समाचार तैयार करते हैं जिसमे लोग एक दूसरे से सवाद स्थापित करते हैं। वे जब चाहे कार्यक्रम को रोक कर परस्पर बातचीत कर सकते हैं,और कार्यक्रम को बदल सकते हैं। गौरिल्ला टी वी अपने कार्यक्रमो को कई विभिन्न प्रकारो से प्रस्तुत करता है **प्रति विज्ञापन** टी वी के विज्ञापनो की ध्वनि ट्रैक पर गौरिल्ला विडियो को 'डब' करने स एक नया ही दृश्य बन जाता है। जैसा कि लैन्डरॉड के विज्ञापन' की ध्वनि के साथ वियेतनाम युद्ध के दृश्य या बिल्लियो की खुराक के विज्ञापन की ध्वनि पर बियाफरा मे भूख से बिलखते बच्चो की तस्वीरें। टी वी के घरेलू किस्म के नाटकों की ध्वनि पर सडको पर लोगो की तनावपूर्ण बात और शोर।

राजनीतिक विज्ञापन राष्ट्रपति निक्सन के वक्तव्यो के साथ उत्तेजित छात्रो के दृश्य या 'कैन्ड' हँसी का सयोजन। और उसके साथ बार-बार दुहराना—'ए जेनरेशन ऑव पीस'

वास्तव म विडियो कैसट न मानव सम्बन्धो मे एक क्रान्ति ला दी है—प्रत्येक व्यक्ति अपने और अपने परिवार और मित्रो और जन साधारण और समूहो के दृश्य टी वी पर देख और दिखा सकता है। ब्राडकास्ट टी वी के लोग कैमरे को सम्बोधित करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि वे हजारो

लोगो को सबोधित कर रहे हैं। वास्तव में वे किसी से भी बात नहीं कर रहे होते।

गौरिल्ला टी वी ने ऐसे कई कार्यक्रम तैयार किये हैं।

'पीपल्स विडियो थियेटर'

'विमेन्स लिबमार्च, और 'सुपर मार्केट' 'विडियो फ्रीक्स' ने फ्रेंड हैम्प्टन इण्टरव्यू (स्वर्गीय अश्वेत पैन्थर नेता से भेंट),

' फिल्म' (फोनोग्राफिक फिल्म कैसे बनती है) और 'मैनी' (सडक पर गोली चलाती पुलिस से भेंट) 'मीडिया एक्सेस सेन्टर' ने जूविनाइल जस्टिस स्कूल के बच्चो द्वारा सचालित बच्चो से सबधित विडियो) और 'ग्लोबल विलेज' ने (ए बी हाफमैन शिकागो अभियुक्त युवानेता से भेंट) जैसे कार्यक्रम प्रदर्शित करके गौरिल्ला टी वी को वैचारिक क्रान्ति और जन-समाचार-प्रसार का एक सशक्त लोकप्रिय माध्यम बना दिया है।

आज जबकि सूचना सग्रह और सचार का इतना अधिक केन्द्रीकरण और एकाधिकार हो गया है (करोडो रुपये की लागत को तो छोड ही दीजिए) कि दूरदराज गावो के भी उपग्रह टी वी द्वारा महानगरो मे सत्तारूढ विशेषज्ञ लोगो को समाचार एव शिक्षा उपलब्ध कर सकते हैं तो ऐसे समय मे गौरिल्ला टी वी विचारधारा जनप्रसारण के क्षेत्र म एक प्रविधि ही नही, एक क्रान्तिकारी विचार भी है। इससे सूचना-समाचार के जन शक्ति के रूप मे उभर कर सामने आने की सम्भावना प्रबल हो गई है। जब इस शक्ति पर एक व्यक्ति या अधिनायक, वर्ग या तत्र का नियत्रण नहीं बल्कि समस्त जनता का अधिकार होगा, तब ही सही अर्थों मे प्रसारण-प्रजातन्त्र की स्थापना होगी। △

हर गली रंगमंच है, हर दर्शक अभिनेता

'पैरेडाइज नाउ' नाटक का दूसरा भाग समाप्त होता है और रंगमंच से आवाज आती है—'न्यूयार्क की पूंजीवादी व्यवस्था बदल डालो और वियतकाग बन जाओ।' और दर्शक जिस प्रकार की प्रतिक्रिया करते हैं, अभिनेता उसमें शामिल हो जाते हैं। अभिनेताओं और दर्शकों के बीच की दीवार मिट जाती है और हम अनुभव करते हैं—एक नये प्रकार के थियेटर का, जिसे 'स्ट्रीट थियेटर' की संज्ञा दी गयी है। छोटे-बड़े शहरों की सड़कें, गलियां, पार्क, वीरान गिरजाघर, काफी हाउस, कालेज और स्कूलों की खुली जगह—स्ट्रीट थियेटर का रंगमंच बन जाती हैं।

इनकी मुद्राएं स्वच्छन्द हैं। इनका संवाद सीधा, सहज और उसी दो टूक भाषा में है, जो इनके दर्शकों की भाषा है।

न्यूयार्क में लंच के समय, एक स्कूल के छात्रों का ऐसा ही नाटक मैंने देखा। छात्रों का एक समूह अन्य छात्रों की एक भीड़ से निकल कर स्कूल के कैफेटेरिया के सामने एकत्र होने लगता है। उन्होंने कैदियों का लिबास पहन रखा है। कुछ सलाखें भूमि पर गाड़ दी जाती हैं। इनके पीछे ये कैदी हथकड़ियों और बेड़ियों से संगीत की धुनें निकालते हैं और समूह गान गाते हैं। एक लड़का काला मुखौटा लगाये हाथ में हंटर लिये, चटाख-चटाख की आवाज करता है—स्कूल एक जेल है, छात्र बन्दी और प्रिंसिपल जेलर। नाटक का विषय है कि किस प्रकार वर्तमान शिक्षा नवयुवकों को सत्ता की दासता और अनुरूपता सिखाती है। इसमें मूल परिवर्तन की आवश्यकता है, जो व्यवस्था को बदले बिना संभव नहीं।

पिछले कुछ वर्षों से स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों के छात्र और युवा पीढ़ी के कई दल, अमरीका के एक छोर से दूसरे छोर तक ऐसे ही नाटक खेल रहे हैं।

ऐसा ही एक दिलचस्प नाटक मिशिगन राज्य विश्वविद्यालय की एक मंडली द्वारा 'मनापली' खेल के आधार पर रचा गया है। फुटपाथ पर एक बहुत बड़ा मनोपली बोर्ड बनाया गया। राह गुजरते लोगों को मोहरों के रूप में बोर्ड के भिन्न-भिन्न स्थानों पर खड़ा कर दिया जाता था—युद्ध विरोधी प्रदर्शन—सीधे जेल जाओ, केवल श्वेत लोगों के लिए, अश्वेत लोगों का प्रवेश निषिद्ध! ड्राफ्ट—सीधे वियतनाम जाओ, वियतनाम—यदि वहाँ पहुंच गये, तो मृत्यु निश्चित है, आदि।

गंदी बस्तियों या घरों में खेले जाने वाले नाटक सीधे इन लोगों की जिन्दगी से लिये जाते हैं चाहे यह उनकी निर्धनता हो या पुलिस का अत्याचार या निवास की समस्या या सड़कों पर बिखरा कूड़ा-करकट। स्ट्रीट थियेटर जनता को नाटक नहीं दिखाता, उनमें जाता है। जो इस मूल मंत्र को भूल जाता है, उसका हश्र वही होता है, जो मोबाइल थियेटर का हुआ, जब उसने शेक्सपियर का नाटक हैमलेट १९६४ में हर्लेम में खेला। दर्शकों ने रंगमंच पर पत्थरों की बौछार कर दी। इस नाटक के निदेशक जाजफ पैप ने अपनी एक भेंटवार्ता में कहा, एक समय था, जब शेक्सपियर के नाटक खेलना उचित समझा जाता था लेकिन अब उतना सही नजर नहीं आता। गत कुछ वर्षों से ऐसा ही हो रहा है। जब भेंटकर्ता ने कहा कि यह शायद इसलिए है कि राजनीतिक परिस्थिति बदल चुकी है तो पैप ने कहा, बिलकुल सही। प्रत्येक चीज बहुत बदल चुकी है। एक बार निराय जोस से इस विषय पर मेरी बड़ी बहस हुई। बकौल उसने कहा, 'वे हैमलेट नहीं चाहते। उनको उनके से जीवन संबद्ध नाटक दो।

अमरीकी स्ट्रीट थियेटर के सम्बन्ध में स्मरण रहे कि अमरीकी जीवन-पद्धति में नववामपंथी क्रांति और यौन क्रांति को प्राय: एक ही महान क्रांति के रूप में देखा गया है। इसलिए उनका मसीहा मार्क्स न होकर विलहम रीश है। रीश ही शायद प्रथम मनोवैज्ञानिक था, जिसने यौन क्रांति के नाम से पुस्तक लिखी है—और जिसके जीवन पर निर्मित फिल्म 'डब्ल्यू आर—एन अनटामी आफ आर्गेनिज्म' में इन दोनों क्रांतियों का बड़ा ही प्रामाणिक समावेश मिलता है।

स्ट्रीट थियेटर इतना उन्मुक्त है कि एक समय का सबसे अधिक विक्षुब्ध लेखक जान आस्बर्न भी इस प्रकार के थियटर से क्षुब्ध होकर चिल्ला उठा, 'प्रजातन्त्र पागल हो गया है। इसमे कला के इस मूल तत्व को ही भुला दिया गया है कि कुछ लोग अन्य लोगो की अपेक्षा बेहतर कला प्रदशन कर सकते हैं। आज तो यह हाल है कि प्रत्यक व्यक्ति यह समझने लगा है कि वह उतना ही अच्छा कलाकार है, जितना कि दूसरा

लेकिन स्ट्रीट थियेटर की लोकप्रियता बढती ही गयी। इस बढती हुई लहर को देखकर ब्राडवे ने भी सडको की ओर रुख किया और 'ब्राडवे गोज टू स्ट्रीट' के अन्तर्गत कई नाटक खेले। लेकिन यह स्ट्रीट का थियेटर न बन सका। ब्राडवे इब्सन, शा और चखव के सामाजिक यथार्थवाद और स्टिन्बग और यूजीन ओ नील के मनोवैज्ञानिक नाटको से आगे नही बढ सका।

स्ट्रीट थियेटर हर प्रकार की परम्परा से मुक्त है। परम्परागत व्यावसायिक थियेटर अभी तक ब्रिटेन के थियटर की परम्परा और स्टेनस्लवस्की के मैथड के आन्तरिक सत्य पर आधारित है। स्ट्रीट थियेटर के प्रवतको के विचार मे आधुनिक ससार इन नाटककारो की दुनिया से बहुत भिन्न है। आधुनिक युग नयी उन्मुक्त कलाकृतियो की माग करता है। नाटक समीक्षको की एक समस्या है कि वे स्ट्रीट थियटर को कला के दायरे से इसलिए बाहर समझते हैं, क्योकि उनकी दृष्टि नये युग के यथार्थ तक नही पहुच सकी।

स्ट्रीट थियटर उस नयी मनोवृत्ति का परिचायक है, जो ६० की युवा पीढी के अपने समाज, सस्कृति और सत्ता से विद्रोह के परिणामस्वरूप व्यक्त हुई है।

वह रगमच उस सस्कृति को अस्वीकार करता है, जो युद्ध, दमन, अत्याचार और भ्रष्ट राजनीति का कलात्मक पोषण करती है। यह उन लोगो का रगमच है, जो व्यावसायिक रगकर्मी नही, साधारण नागरिक है। वे स्वय ही अभिनेता हैं और स्वय ही दशक—वे उस रगमच का सृजन कर रहे है, जो केवल उन्ही का रगमच है। जब रगमच सडको पर आ जाये तो इसका प्रयोजन भी बदल जाता है और शिल्प भी— सडके विनम्र नही होती, कठोर होती हैं। वे ऊब और निराशा की मौन स्मारक है'—यह स्थिति इस बात की द्योतक है कि मेलोड्रामा और 'गीत भरे नृत्य उस बर्बरता को प्रस्तुत नही कर सकते—शहरो की नौकरशाही ने जिसका पोषण किया है। वे कहते हैं कि हमने अपने आपको बहिष्कृत कर लिया है—व्यावसायिक बाजार से बहिष्कृत। बाहर सडको और पार्कों मे। क्योकि बाहर ही वह स्थान है, जहा क्रांति फैल सकती है। △

विद्रोह: मुक्ति के आयाम

"मनुष्य की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है'

—निराला

' इतिहास का अन्त नहीं हुआ। एक बेहतर समाज सम्भव है और उसके लिए शहीद होना गर्व की बात है।"

—मारियो साविया

मनुष्य, मृत्युबोध और संवेदनशून्यता

"मरते हुए आदमी क्यों अच्छे नहीं लगते ?' यह प्रश्न बड़ा महत्वपूर्ण है। क्योंकि यह प्रश्न उस मनःस्थिति पर फिर से विचार करने पर विवश करता है जो आधुनिकता के नाम पर हिंसा, अपराध, सेक्स उत्सव, समलैंगिक संबंधों, बलात्कार और क्रूर हत्या आदि को साहित्य का प्रामाणिक विषय स्वीकार करती है और मृत्य या मानवता को वहम को दकियानूसी घोषित करती है। वैसे अपने में यह मौलिक विचार नहीं बल्कि यूरोप और अमरीकी 'बेस्टसेलर्स' में बार-बार दुहराए गये विषय की ही अनुकृति है।

जब भी इस प्रकार विचारों की आलोचना की जाती है तो इस विषय की प्रमाण पुष्टि के लिए बड़े-बड़े नामों की परेड की जाती है—मार्क्स और कामू से लेकर हैनरी मिलर, नार्मन मेलर, इयानस्की, जेने, विलियम बरोज गन्टर ग्रास, रावब ग्रिये आदि। और इनके जीवन दर्शन को नकारना अपने पिछड़ेपन को ही सिद्ध करना है।

सबसे पहला प्रश्न तो यह है कि क्या मरते हुए आदमी का अच्छा लगना आधुनिकता का प्रतीक है। बिल्कुल नहीं। प्रागैतिहासिक आदिम पुरुष से लेकर १९६६ के हत्यारे रिचर्ड स्पेक (पच्चीस वर्षीय युवक जिसने एक रात में आठ नर्सों की निर्मम हत्या की) तक एक लम्बा सिलसिला है मरते हुए आदमी के अच्छा लगने का। विश्वास कीजिए, आधुनिक साहित्यकारों को रिचर्ड स्पेक से बेहतर 'एण्टी-हीरो' या आदर्श पात्र बड़ी मुश्किल से मिलेगा। हिटलर को मरते हुए आदमी बड़े अच्छे लगते थे और उसने साठ लाख यहूदियों को अमानुषिक यातना का शिकार बनाकर मौत के घाट उतार दिया।

मध्ययुगीन इतिहास इस बात का साक्षी है कि धर्म और राज्य के नाम पर क्या-क्या अपराध नही किये गये। जिहाद और सलीबी युद्ध, आदिम जातियो की और आदिम जातियो द्वारा क्रूर यातनापूर्ण हत्याएँ। गॉथ, वेण्डल्स, एटीलिया, चगेजखा, तेमूरलग् नेपोलियन, सीजर, स्टालिन, नादिरशाह और कितने ही नाम हैं जिनको मरते हुए आदमी अच्छे लगते थे। भारत और पाकिस्तान के दगो मे भी मरते हुए स्त्री, पुरुष और बच्चे कुछ लोगो को अच्छे लगते थे। हर देश मे विभिन्न कालो मे यह दास्तान दोहराई गई है और इनसे अधिक सौन्दर्यरस प्राप्त करने के लिए निर्मम बर्बर यातना के नये-नये तरीको का आविष्कार किया गया। मस्त हाथियो के पाँव तले रौंदने, रथ के पहियो के नीचे कुचलने पत्थरों काटने, भूसे-प्यासों को कोड़े लगा-लगाकर मारने से लेकर कन्सेण्ट्रेशन कैम्पो और गैसचैम्बर्स तक मृत्यु के टूर्नामेट, मौलअर, युद्ध, नेपाम और उद्जन बम तक एक ऐसा वातावरण तैयार किया गया है कि मृत्यु के प्रति हम न केवल उदासीन हो जाए (करुणा की बात तो छोडिए यह तो बडी छिछली भावुकता है) बल्कि इसको अनिवार्य और अपेक्षित परिस्थिति समझ कर इस पर गर्व कर सकें। वरना बर्बर मृत्यु का निशाना बनते हुए लोगो को देखकर एकत्रित भीड उल्लासपूर्ण जय-जयकार के नारे नही लगा सकती।

यह विचार आधुनिक नही प्रागैतिहासिक आदिम प्रवृत्ति है जिसे शिक्षा, कला और साहित्य, दर्शन और विज्ञान परिष्कृत करने मे असफल नजर आते हैं। वरना क्या कारण है कि बीसवी शताब्दी मे भी कोई लेखक यह कहने का साहस करे कि मरते हुए आदमी क्यों अच्छे नहीं लगते। यह मन स्थिति आधुनिक नही आदिमयुगीन है और जिसका विरोध यदि किसी एक वर्ग ने सबसे अधिक किया है तो वह कलाकारो और साहित्यकारो का वर्ग है। इसलिए नही कि उसके पास कोई मृत्युदर्शन या मृत्युबोध नही बल्कि इसलिए कि उसके मृत्युदर्शन और मृत्युबोध मे मरते हुए आदमी से अच्छा लगने का सौन्दर्यबोध नहीं।

कला की एक विचारधारा यह भी रही है कि 'यदि हज़ार कुमारिया मर भी जाए तो क्या हुआ अगर उनकी मृत्यु कलाकार डलाक्रोय को कैनवेस उपलब्ध करा सकती है। यह विचार केवल विशुद्ध कला के अनुयाइयों का ही हो सकता है। लकिन आधुनिक कलाकार इस विशुद्ध सौन्दर्यवाद को वर्षो पूर्व त्याग चुके है। फिर यह आधुनिकता कहाँ से आ गई ? वास्तव मे आधुनिकता इस विशुद्धवाद के प्रोटेस्टस्वरूप ही विकसित हुई है।

जब १९४५ में बंगाल में लाखों औरत-मर्द और बच्चे चावल के एक एक दाने को तरसते काल का शिकार हो गए तो उर्दू के एक आधुनिक लेखक मुहम्मद हसन अस्करी ने कहा था कि दुर्भिक्ष पर कहानियां-कविताएं लिखने से तो बेहतर है कि नंगी तस्वीरों का एल्बम देखा जाए। प्रश्न दुर्भिक्ष या युद्ध पर कहानियां और कविताएं लिखने का नहीं बल्कि उस परिस्थिति और सत्ता के विरुद्ध प्रोटेस्ट का है जो इनका कारण बनती है। मनुष्य और जीवन के प्रति आस्था कोई दकियानूसी मूल्य नहीं। अन्याय, अत्याचार और निर्धनता के विरुद्ध आवाज उठाना भी दकियानूसी मनोवृत्ति नहीं। सार्त्र और कामू के नाम की दुहाई देने वाले लेखक क्या भूल गए हैं कि वे पूरी तरह प्रतिबद्ध हैं। सार्त्र के जीवन और साहित्य से बीसियों उदाहरण दिए जा सकते हैं। यहां बहस प्रतिबद्धता पर नहीं। केवल कामू का एक वाक्य ही काफी है—मैं विद्रोह करता हूं। इसलिए हम अस्तित्व रखते हैं।

प्रगतिशील और तीस के लेखकों की कमिटमेंट के कारण जो निराशा की लहर फैली, उसकी लपेट में हर प्रकार की मानवीय संवेदना और सामाजिक प्रोटेस्ट 'एब्सर्ड दर्शन' का शिकार हो गए। लेकिन आधुनिक लेखक भूल गए कि हम भी 'कमिटेड' हैं। मनुष्य और जीवन के प्रति क्योंकि सौन्दर्यबोध और अच्छा लगना मानवीय अनुभूति और प्रक्रिया है जो उसके जीवन से अटूट तौर पर सम्बद्ध है। यहां मैल्कम मगरिज के विचार उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा, 'अर्द्धशती जिसमें मैं सचेतन रूप से जीवित हूं मुझे विशेष रूप से ध्वंसात्मक, हत्यारी और बर्बर दिखाई देती है। (इस अर्द्धशती में) अधिक लोग मारे गये हैं और आतंक का शिकार बनाए गये हैं। अधिक लोगों को बेघर या निर्वासित किया गया है। अधिक तौर पर प्राचीन दाय को नष्ट किया गया है। अधिक झूठ का प्रचार किया गया है और नीच प्रेरणा का व्यवहार किया गया है। कला, साहित्य और कल्पनायुक्त बोध में बहुत कम उपलब्धि हुई है।'

ह्रासोन्मुखता और कुंठा के शब्द अब सम्मानित हो चुके हैं। यदि आज किसी को इन शब्दों से याद किया जाए तो स्थिति को बड़ा हास्यास्पद समझा जाता है। सम्मानित होने के बावजूद भी कुंठा रोग का लक्षण है। कुंठा साहित्य का विषय बन सकती है, दर्शन नहीं। क्योंकि कुंठाग्रस्त व्यक्ति की रचनाएं बहुत कम सौन्दर्य सृजन के अन्तर्गत आती हैं। कला का सृजन कुंठा से निसृत नहीं बल्कि कुंठा पर रचनात्मक शक्ति के विजय पाने की क्रिया से उत्पन्न है। जो लेखक कुंठा को जीवन दर्शन के रूप में प्रस्तुत करता है, वह न

आधुनिक है और न ही रचनाकार। फ्रायड ने लिखा है कि हम बार-बार इस तथ्य पर जोर दे सकते है कि मानव-बुद्धि मनुष्य की सहज प्रवृत्तियों की अपेक्षा कमजोर है। यह मानते हुए हम सही होंगे। लेकिन इस दुर्बलता म एक विशेषता है। बुद्धि की आवाज नम है लेकिन सुनाई देने से पूर्व यह बन्द नही होती। अन्त म उग्र इन्कार के बाद भी यह सुनाई दे ही जाती है। फ्रायड के इस कथन को दुहराने की जरूरत इसलिए पडी कि आज आधुनिकता बुद्धि के विरोध म सहज प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति म समझी जा रही है और अधिकतर बेचारे फ्रायड के नाम पर।

ऐसे लेखक मूल्यहीनता की आधुनिक परिस्थिति का वास्ता देते है—शून्यवाद और मूल्यशून्य। मनुष्य और जीवन को नकारना और मृत्यु की स्तुति करना मूल्यहीनता नही बल्कि एक मूल्य की अपेक्षा दूसरे मूल्य को श्रेय देना है। ऐसी स्थिति मे बहस इस बात पर होगी कि कौन-सा मूल्य मूल्यवान है और इस बहस म दर्शन, मनोविज्ञान और सौन्दर्यशास्त्र-सबको सह ा तना पडेगा। क्योकि लेखक इस व्यापक-बोध से डरता है, वह यही बेहतर समझता है कि वह हर बात का मजाक उडाये—और यह रुझान आधुनिक युग की हास्यास्पद स्थिति के बिल्कुल अनुकूल है। लेकिन इसे स्टंट' और प्रचारप्रियता का ही लक्षण समझा जाना चाहिए। चौंकाना अपने-आप मे उपयोगी हो सकता है लेकिन आवश्यक नही कि वह साहित्यदर्शन के रूप मे भी स्वीकार किया जाय।

मृत्यु हमेशा मनुष्य की स्वतन्त्रता की भौतिक सीमा रही है और साहित्य सदा स्वतन्त्रता के क्षितिज को विस्तृत और व्यापक करने की प्रेरणा। यदि दुर्भिक्ष के शिकार, स्त्री पुरुष और बच्चो को मौत के मुह म जाने से बचाने के लिए आवाज उठाने स कोई लेखक आधुनिकता के लेबल से वचित हो जाता है तो शायद ही कोई प्रबुद्ध लेखक आधुनिक रह जायेगा। कैनेथ टाइनेन मेरे विचार मे आधुनिक लेखक है। उसने एक बार कहा था कि साहित्य की कोई भी कृति चाहे वह कितनी ही अमर क्यो न हो मनुष्य के जीवन का मूल्य नही। टाइनेन आदिम या मध्ययुग का दकियानूसी रचनाकार नही, आधुनिक युग का सवेदनशील लेखक है जो अंग्रेज होते हुए भी इग्लैंड के राजनीतिक और सास्कृतिक पतन को अपने लेख का निशाना बना कर कहने का साहस कर सकता है—मुझे इग्लैंड स नफरत है। क्योकि उसके लिए मनुष्य स ऊपर न कोई सत्ता है और न कोई साहित्य।△

एक सम्पूर्ण व्यक्ति की हत्या और हजार बेजान चेहरों का जुलूस

सेक्स का हर पहलू—विषमलिंगगामी और समलैंगिक, विवाहित और अविवाहित ('सेक्स एण्ड द सिंगल गर्ल') आत्मरति और झाड़ी की ओट में, घर में और दफ्तर में, दिन, दोपहर और रात (और शाम) में सेक्स। लेकिन वास्तव में गत दशक की यह 'सेक्स क्रान्ति' लोग की सेक्स क्रान्ति के सामने एक नपुंसक प्रदर्शन प्रवृत्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसमें आत्मरति का सुख और दान अपराध की सन्तुष्टि तो शामिल है पर मानवीय संवेदना की ट्रेजिक अभिव्यक्ति नहीं क्योंकि इसमें उच्छृंखलतावश 'परमिसिवनेस' को 'लिबरेशन' समझ लिया गया है।

इसका परिणाम क्या हुआ? महामारी में 'हीरो' की मृत्यु भी हो गयी और किसी को पता भी नहीं चला और 'आधे-अधूरे' एक चौथाई साहित्य का केन्द्र बन गये। नारा बुलन्द हुआ यह युग 'लघु मानव' का है, 'एण्टी हीरो' का युग है। 'किचन सिंक' नाटकों के नायक साहित्य में प्रतिष्ठित किये गये। मनुष्य! अरे भाई वह तो सिम्पटम है—एण्टाई हीरो। जिगो-पोर्टर। और साधारण कहानियों में अपूर्ण पात्रों के मुखौटों को चेहरे का नाम दे दिया गया।

एक और भ्रम। मूल्यशून्यता। मूल्य बदले हैं। पुराने मूल्यों की जगह दूसरे (असली नहीं नये) मूल्यों ने ली है। मूल्यशून्यता जैसी कोई स्थिति

नही होती । रोमेण्टिक आदर्शों के स्थान पर यदि क्षणवादी भोगवाद ने ले ली तो वह मूल्यशून्यता कहाँ हुई ? एक भोगवादी सभ्यता ने साहित्य को ग्रस लिया तो क्या मनुष्य और मूल्य भी मर गये ? ईश्वर की मृत्यु हुई ? किसने उसकी हत्या की ?— हमने । और हमने ही मनुष्य और मूल्य के शव साहित्य की कब्रो मे दफन किए हैं । और हम शरण लेते हैं यथार्थवाद की । रोमेण्टेसिज्म का विरोध करते है । मृत्यु बोध । यदि मृत्यु सत्य है तो जीवन भी सत्य है । यदि हत्या सत्य है तो रोगी को शल्य चिकित्सा द्वारा नया जीवन प्रदान करना भी सत्य है । मनुष्य टूटा हुआ है, बिखरा हुआ है खण्डित है-- यह सत्य है तो टूट टूट कर बिखर-बिखर कर सम्पूर्ण होने और जुडने की क्रिया मे समस्त ब्रह्माण्ड को अपनी गोद मे भर लेने की आकाक्षा और उसकी पूर्ति के लिए जोखम उठाना भी सत्य है । 'नव-मनुष्य' और 'नव समाज' के नारे से उत्पन्न मोह-भग एक विशेष प्रकार के समाज से निराशा है— समस्त मानव जाति से नहीं । एक विशेष 'आईडिओलोजी का खातमा समस्त चिन्तन और दर्शन का खात्मा नही । कदम-कदम पर पराजय अन्तिम और सम्पूर्ण पराजय नही । गत दशक के साहित्य और नये दशक के साहित्य मे यही मूल भेद होगा । जो साहित्य मनुष्य की मृत्यु घोषित करता है वह साथ ही अपनी मौत की खबर भी सुनाता है क्योकि मनुष्य के भाग्य से अलग या बाहर साहित्य का कोई भविष्य नही । आज जो दोष हम आधुनिक मनुष्य को 'आइडण्टिटी' के सकट को दे रहे है वास्तव मे वह मनुष्य से कट जाने के बाद लेखक की स्वय की 'आइडण्टिटी का सकट है । सम्पूर्ण मनुष्य से कट कर चेहरों के जुलूस मे अपनी आइडण्टिटी की तलाश करने वाले लेखक का क्या हश्र होगा इसकी कल्पना करना मुश्किल नही ।

गत दशक का साहित्य स्वत्व की पहचान की खोज मे भटकता रहा । सुकरात भी स्वत्व की तलाश करता रहा है । गत दशक का साहित्य मनुष्य के एकाकीपन को प्रस्तुत करता है । प्रोमीथियस भी निजन स्थान मे ही नही, देवताओ की दुनिया मे भी अकेला था । कार्ल मार्क्स (आधुनिक लेखको के हाथो काफी बदनाम होने के बावजूद) पहला आदमी था जिसने औद्योगिक युग मे एलियेनेशन के मूल विचार को प्रस्तुत किया । सुकरात प्रोमिथियस या कार्ल मार्क्स के नामो को दोहराने की जरूरत इसलिए पडी कि स्वत्व एकाकीपन और एलियनशन आदि का उल्लेख गत दशक मे बार बार हुआ है । यह समस्याएँ नया नही । इन पर बहुत पहले भी विचार हो चुका है एकदम से नया कुछ नही घटता । लेकिन यदि आप यह कहना चाहते हैं कि आधुनिक

तकनीकी क्रान्ति मे मनुष्य जिस प्रकार एकाकीपन और सत्रास का शिकार हुआ है, ऐसा पहले कभी नही हुआ तो यह विचार समकालीन सदर्भ मे ही उभर सकता है, सुकरात के युग मे नही, क्योकि उस युग मे तकनीकी क्रान्ति प्रकट नही हुई थी और नगरो की भीड का यह रूप नही था। उस युग का सत्रास गोथिक था और साहित्य मे यह सत्रास अपनी समस्त दार्शनिकता के बावजूद स्नायविक सत्रास ही बन चुका है, अस्तित्ववादी नही।

लेकिन आधुनिक साहित्य भी अब 'आधुनिक' नही रहा। क्योकि वह इस युग के नये तकाजा और चुनौतियो को स्वीकार करने मे असमर्थ सिद्ध हो चुका है। वही पुरानी बातें दोहराई जा रही है जिन्हे इनके प्रेरक यूरोप के लेखक कब के दफन कर चुके हैं। जरा उन यूरोपियन या अमरीकी लेखकों के नाम तो गिनवाइए जो सामाजिक दायरे से बाहर या ऊपर उठकर स्वत्व की पहचान मे ही लीन हैं और एकाकीपन की पीडा लिये मनुष्य और जीवन से घृणा करते हैं। मूल्यो का संकट ? जी हाँ, मुझे कोई ऐसी श्रेष्ठ रचना बताइए जो मूल्यो के सघर्ष से खाली हो। जिसमे केवल शून्यता हो, मूल्य नही। व्यक्ति और परस्पर सम्बन्धो को गत दशक के लेखक जिस अन्दाज से पेश करते हैं, उनमें भी मूल्यो का समावेश है। यदि मूल्य पहले ही नष्ट हो चुके हैं तो यह सारा रोना धोना किस बात का है ? साहित्य लेखन छोडिए और सन्यास लीजिए और स्वत्व की तलाश कीजिए। कभी-न-कभी मिल ही जाएगा। आखिर स्वत्व है, ईश्वर तो नहीं जिसकी मृत्यु की घोषणा नित्शे से लेकर कल तक हर लेखक करता आ रहा है।

गत दशक मे साहित्य के क्षेत्र मे जो नये-नये विचार आये या नये प्रयोग किये गये, वे निश्चय ही साहित्य की ताजगी, भुगुपतगी और नये चिन्तन और भाव का बोध देते हैं। प्रगतिवाद की बन्द गली से बाहर निकलना जरूरी था। लेकिन यह विद्रोह भी अब स्थापित व्यवस्था का अग बन चुका है। क्राति का नारा लगाने वाले भी व्यापारिक विज्ञापन बडे धूम-धडाके के साथ छापते हैं।

प्रश्न यह है कि पिछले दशक के लेखक नये दशक के यथार्थ की चेतना रखते हैं या नही। और इसकी चुनौती को स्वीकार करते हैं या नही। यदि स्वीकार करते हैं तो कैसे ? आज यदि ये यह कहें कि हमारे पास प्रश्न है, उत्तर नही तो इन्हें युगचिन्तक का दर्जा नही दिया जा सकता क्योकि हम जानते हैं कि इनके पास उत्तर हैं जिन्हे वे हमसे छिपाना चाहते हैं या उनको

उद्घोषित करते हुए डरते है, जैसा कि 'इस्टेब्लिशमेंट' का प्रत्येक अंग करता है। वे भली-भाँति जानते हैं कि तानाशाही, रक्तपात, युद्ध, साम्प्रदायिकता, भ्रष्टाचार, नौकरशाही, धन-पद प्रतिष्ठा, नफाखोरी आदि मनुष्य की बहुत-सी परेशानियो, अपमान, दुर्गति और पाशविकता का जिम्मेदार कौन है? क्योंकि वे इसका सामना करना नही चाहते इसलिए केवल प्रश्न करते हैं — सूली की तरह उठाये-उठाये घूमते हैं ('हाय बेचारे क्राईस्ट का क्या होगा'?) —वे उत्तरो से कतराते और घबराते हैं। प्रत्येक क्रान्ति तानाशाही को जन्म देती है—इसलिए वर्तमान तानाशाही के सामने घुटने टेक दो। मैं मानता आ रहा हूँ कि स्थिति कितनी ही जटिल और विषम क्या न हो और कितनी ही अनिवार्य क्यो न नजर आये, लेखक इसके विरुद्ध प्रोटेस्ट किये बगैर नही रह सकता। साहित्य मे जो भी नई प्रवृत्ति जन्म लेती है वह इसी प्रोटेस्ट के कारण ही सामने आती है। लेखक का काम अनुभव खण्ड ही प्रस्तुत करना नही, अनुभव की समग्रता को समझना भी जरूरी है। किसी 'भोगे हुए यथार्थ' को अपनी कच्ची शक्ल मे प्रस्तुत करना ही नही, उसके अर्थ और महत्व में दृष्टि प्रदान करना और मूल्यो से उसकी सापेक्षता स्थापित करना भी है। यह विशेषज्ञ प्रकार के लेखक किसी आधुनिक अस्पताल के भव्य भवन के डार्करूम मे रोगी के अग प्रत्यग का आधुनिक 'सोफिस्टीकेटेड' यन्त्रो द्वारा परीक्षण करके समझ लेते हैं कि उन्होने रोग की जाँच कर ली जब रोग रोगी से अलग है और रोगी उसके मनुष्य से अलग और मनुष्य अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अलग तो ताज्जुब नही कि मर्ज बढता गया ज्यू ज्यू दवा की।

'रोमेण्टेसिज्म'—बेचारे की बडी दुर्दशा हुई गत दो-तीन दशको मे। लेकिन मुझे आज भी यह शब्द पुराना होते हुए भी प्रिय है क्योंकि इसने मनुष्य की स्थिति को यथावत् स्वीकार करने से इन्कार किया है। उसके विरुद्ध आवाज उठाई है और मनुष्य की स्वतन्त्रता का आह्वान किया है। घुटने टेकने से लक्ष्य की असफलता मे मर जाना कहीं बेहतर है—इतिहास का खात्मा नहीं हो गया। एक बेहतर समाज आज भी सम्भव है और उसके लिए शहीद होना अब भी अभिमान की बात है। मनुष्य की मुक्ति के बगैर साहित्य की मुक्ति सम्भव नही। △

काल इतिहास : कविता की मुक्ति

कुछ ऐसे कार्य हैं जो कविता नही कर सकती। क्योकि ये कार्य न तो इसके प्रयोजन मे शामिल हैं और न ही कवि की सृजनात्मक प्रक्रिया का ही तकाजा है और शायद न ही ऐसा सम्भव है। मसलन इस आम चुनाव से पूर्व चुनाव म दो नारे वडे जोर-शोर से लगाये गये

"इन्दिरा हटाओ और गरीबी हटाओ"

लकिन उस समय न तो इन्दिरा ही हटी और न ही गरीबी। फिर चुनाव हुए। गरीबी तो कायम रही। इन्दिरा हट गयी और कविता से नही हटी—जन-चेतना और जनरोष से हटी।

कविता भूख, दरिद्रता, और वेकारी को नही हटा सकती। इसलिए एक लेखक ने फ्रासीसी साहित्य के माध्यम से हम तक यह खबर पहुँचाई थी कि साहित्य सृजन दरिद्रता का निदान नही।

स्पष्ट है कि कविता न हरित क्राति ला सकती है—न दुर्भिक्ष रोक सकती है और न ही आन्ध्र प्रदेश का तूफान। न ही सांप्रदायिक दगा की आग बुझा सकती है, न वियतनाम का युद्ध बन्द करा सकती है। न वगला देश को मुक्ति दिला सकती है और न ही किसी अधिनायक की तानाशाही को ही रोक सकती है।

ये सब कार्य राजनीतिज्ञो, अर्थशास्त्रियो या इसी प्रकार के दूसरे लोगो के सोचने और अमल करने के क्षेत्र हैं न कि कवि के।

इस हद तक तो बात समझ मे आती है लेकिन बात यहीं समाप्त नही होती। क्योंकि बहुत से कवि अपनी पहचान और शिनाख्त और अपने गुमशुदा स्वत्व की तलाश मे परेशान है और अपने 'आइडेण्टिटी' क्राइसिस को दूर करने के लिए ये अन्तत किसी अधिनायक के व्यक्तित्व मे अपनी आइडेण्टिटी खो देते है या खोज लेते है या फिर यौन सम्बन्धो, हत्या, आत्महत्या और बलात्कार के हवाले से इस सकट को दूर करने का प्रयत्न करते है। कुछ बीट कवियो की तरह 'रति शिखर' पर पहुँचने मे ही अपनी आईडेण्टिटी का अनुभव कर पाते है।

किसी कवि की सृजनात्मक प्रक्रिया के इस अन्जाम पर भी मुझे कोई आपत्ति नही। लेकिन जब कोई कवि तथाकथित फासिस्ट-विरोधी सम्मेलन मे भाग लेता है और अपने देश मे फासिस्ट शासन का स्वागत करता है तो मुझे ऐसे लेखक को गाली देने का पूरा अधिकार होना चाहिए। और यदि कोई कवि गाली देना अनुचित या अश्लील व्यवहार समझता है तो उसके लिए इस आक्रोश, इस गाली को दबाने की घुटन को कविता का रूप देना एक महत्वपूर्ण सृजनात्मक प्रक्रिया है। गाली, गोली और काव्य ऐसी स्थिति मे सृजनात्मक प्रक्रिया की अभिव्यक्ति के ही विभिन्न रूप हैं।

मैं मनुष्य, जीवन और स्वतन्त्रता से अलग या परे किसी काव्यरचना की कल्पना नही कर सकता। यदि मानवघाती जीवन को नकारती और स्वतन्त्रता के दमन का समर्थन करती हुई कविता लिखी जाती है और वह तथाकथित कलात्मक मूल्यो के निष्कर्ष पर पूरी उतरती है तो मैं उस कविता को *स्वीकार करने से इन्कार करता हूँ।*

तानाशाही मनुष्य की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगाती है, उसकी अभिव्यक्ति को रोकती है और अन्तत स्वतन्त्र चेतना को ही नष्ट करना चाहती है। और कविता सदा स्वतन्त्रता के क्षितिज को ही विस्तृत और व्यापक बनाने की प्रेरणा रही है।

> "अखबार न सही,
> रेडियो न सही,
> *लेकिन जिन के पास अपने लोकगीत हैं,*
> कबीर के भजन हैं,
> और असख्य दतकथाएँ है,
> जिन्हें वह कहेगी और कहेगी

बिना वहे
नही
रहेगी"

कुंतलकुमार जैन

मैं यहाँ कैनेथ टाईमैन की बात एक बार फिर दुहराना चाहता हूँ—उसने एक बार कहा था कि साहित्य की कोई भी कृति, चाहे वह कितनी ही महान और अमर क्यों न हो, मनुष्य के जीवन का मूल्य नहीं बन सकती।

मैं इस बात को बिल्कुल स्पष्ट शब्दो मे कहना चाहता हूँ कि यदि विशुद्ध कलात्मक निष्कर्ष पर खरा उतरने वाली लेकिन मानवघाती मूल्यो की प्रवर्तक कविता और कलात्मक तौर पर कमजोर परन्तु मानव स्वतन्त्रता और स्वाभिमान की पोषक कविता म चयन करना पडे तो मैं पहली की अपेक्षा दूसरी कविता का चुनूँगा।

मैं किसी ऐसे व्यक्ति या लेखक से सम्बद्ध नहीं हो सकता जो स्वतन्त्रता के हनन का साझेदार हो। मेरा यह फैसला मेरी निजी अनुभूति विचार और मूल्यो से जन्म लेता है—कलात्मक मूल्यो से पूर्व मानव मूल्य आते है।

विचारधारा का होना शर्म या जुर्म की बात नहीं—न होना अवश्य ही शर्म और जुर्म की बात है। कोई ऐसा कवि नही जिसकी कोई विचारधारा न हो चाहे वह लेखक ही हो जो नारा 'आम आदमी' का लगाता है और पूजा 'आम आदमी' का दमन करने वाले व्यक्ति विशेष की करता है।

प्रत्येक रचना मे कृतिकार का दृष्टिकोण झलकता है। इसलिए किसी रचना की परख केवल कलात्मक मूल्यो पर ही नही होगी बल्कि वैचारिक स्तर पर भी उसकी परख होगी।

मैंने इससे पूर्व दो नारो का जिक्र किया था-गरीबी हटाओ और इन्दिरा हटाओ। इसी प्रकार भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व दो शब्द और थे—इन्कलाब जिन्दाबाद। स्पष्ट है कि ये दो शब्द भी असाहित्यिक हैं और ये किसी कविता का शीर्षक भी नहीं बन सकते। जो कवि यह समझता है कि इतिहास का अन्त नहीं हुआ, इन्कलाब यानी परिवर्तन आएगा और स्वतन्त्रता के लिए सृजन करना गर्व की बात है, वही 'काला इतिहास' की कल्पना कर सकता है वरना देश भर मे चारो ओर स्वर्ण युग की ही चर्चा थी और

हम 'आने वाले सुनहरे कल की ओर बढ रहे थे'। यही शब्द थे जो कुछ लेखको के लिए प्रेरणा का स्रोत थे। लेकिन 'इन्कलाब जिन्दाबाद' के ये दो शब्द ही थे जिन्हे गुनगुनाते हुए नौजवान फांसी के फदे को चूम लेते थे। सवेदना का यह भी एक रूप है जो भले ही कविता मे व्यक्त न हो सका हो लेकिन कविता इससे बहुत दूर नही।

शब्दो के इस जिक्र मे मुझे एक शेर याद आ गया जो स्वतन्त्रता सग्राम मे हर किसी की जबान पर था

'सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल मे है
देखना है जोर कितना बाजु ए-कातिल मे है।

शायद यह शेर साहित्य का दरजा प्राप्त नही कर सका। इसमे समसामयिकता है। यह देश-कालातीत नही। यह राजनीति से निसृत है। बाह्य जगत की घटनाओ की देन है, कलात्मक नही। अन्त प्रेरणा से निसृत नही। और गालिब का यह शेर कितना 'कलात्मक' है जरा आलोचको से पूछिये

'इस सादगी पे कौन न मर जाय ऐ खुदा
लडते हैं और हाथ मे तलवार भी नहीं।'

दोनो शेरो को गौर से पढिये और कला के आलोचको की बुद्धि की दाद दीजिये। बिस्मिल के शेर मे 'सरफरोशी' जैसा गैर-साहित्यिक शब्द है। हाँ 'तमन्ना' और 'दिल' साहित्यिक है। लेकिन सरफरोशी' ने इन शब्दो को भी आघात पहुँचाया है। शब्द 'कातिल' भी साहित्यिक हो सकता था यदि उससे तात्पर्य 'महबूब होता, शब्द बाजू' भी साहित्यिक हो सकता था यदि उसपर महबूब की जुल्फें परेशां हो जाती। जैसा कि गालिब के दूसरे शेर मे है

'नींद उसकी है दिमाग उसका है रातें उसकी
तेरी जुल्फें जिसके बाजू पर परेशां हो गयीं'

बिस्मिल के शेर मे 'कातिल' कविता का शब्द नही। इसलिए कि यहाँ कातिल की पहचान बडी स्पष्ट है और वह है अग्रेजी साम्राज्य। लेकिन यदि आप आधुनिक हैं तो साहित्य मे कातिल का न कोई नाम है, न कोई चेहरा और न शिनाख्त ही है और न ही कोई मक्तूल। तो फिर आततायी किसको कहा जाये और मजलूम कौन है। आपातकाल म लिखी इस कविता से स्पष्ट है कि हमें हत्यारे की शिनाख्त है

'उठो जल्दी करो अपने बच्चों को छुपा लो
हत्यारे आ रहे हैं काले घोड़ों को दौड़ाते
आसमान से बरसाते
काली चट्टानें।
उठो जल्दी करो अपने फूलों को छुपा लो
हत्यारे आ रहे हैं काले घोड़ों को दौड़ाते
आसमान से बरसाते
काली चट्टानें।
बेमतलब है उनके बारे में कोई बहस करना
वे हत्यारे हैं और हर तर्क के खिलाफ है
वे संवाद के खिलाफ हैं
वे हर आवाज के खिलाफ हैं
वे खुद के संविधान खुद के कानून
के खिलाफ हैं।
न्यायाधीश ! तुम्हारे चारों ओर संगीनें तनी हैं
न्यायाधीश ! यह न्यायालय जेल में बदल चुका है
जल्दी करो जल्दी करो
न्यायाधीश !
अपने न्याय को छुपा लो
हत्यारे आ रहे हैं काले घोड़ों को दौड़ाते
आसमान से बरसाते
अपने काले कानून
अपने सिंहासन के सिवा
हर चीज और बात
उनके लिए गैरवाजिब हो चुकी है
गैरवाजिब हो चुका है हर शब्द
जो उनके खिलाफ है।
उठो जल्दी करो और अपनी भाषा को छुपा लो
हत्यारे आ रहे हैं काले घोड़ों को दौड़ाते
आसमान से बरसाते
काले शब्द।'

—राजेश जोशी

गिन्सबग ने एक बार कहा था—मैं कविता को त्रिशूल के रूप में खड़ा करना चाहता हूँ और यह कहा कि मैं स्पष्ट शब्दों में घोषित करना चाहता हूँ कि संस्कृत का महान लेखक और दार्शनिक शंकराचार्य सबसे क्रूर और निर्मम व्यक्ति था। अन्याय, शोषण और दमन से लड़ने के लिए मैं क्रूरता को उचित समझता हूँ।

मैं नहीं जानता कि शंकराचार्य कितने क्रूर और निर्मम थे। मैं समझता हूँ कि अन्याय शोषण और दमन से लड़ने के लिए करुणा की नहीं, क्रूरता की आवश्यकता है। तानाशाही के विरुद्ध दी गई हर गाली, दागी गई हर गोली और लिखी गई हर कविता करुणा की नहीं, ऐसी ही क्रूरता की माँग करती है क्योंकि कविता महज कृष्ण की बाँसुरी ही नहीं, कृष्ण का सुदर्शन चक्र भी है और शिव का त्रिशूल भी।

निराला ने कभी कहा था कि मनुष्य की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। 'काला इतिहास' मनुष्य की मुक्ति की ही नहीं कविता की मुक्ति की भी घोषणा है। △